कोढ़

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
पहली बार : १०००
नवबर : १९४८

मूल्य
बारह आना

मुद्रक,
देवीप्रसाद शर्मा,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

विषय-सूची

भूमिका*

'लेप्रसी' यानी कोढ, रक्तपित्त या महारोग की जानकारी हिन्दुस्तान में तथा ससार के दूसरे भागो में बहुत पुराने समय से---ईस्वी सन् के दो-तीन हजार वर्ष पहले से, होने के प्रमाण मिलते है। यह कोई मामूली रोग होता और मनुष्य-जाति को विशेप पीडा या क्लेशप्रद न होता तो इसके बारे में बहुत सोचने-विचारने की जरूरत नही थी। परन्तु अत्यन्त दु खदायी और मानसिक पीडा उपजानेवाले जो रोग है यह तो उनमें से एक है।

यह सब देशो में किसी भी फिर्के के लोगो में होता है। यद्यपि दीन-दुर्बलो को यह अधिक सताता है, पर धनियो के साथ भी यह रत्ती-भर भी रिआयत नहीं करता। यदि कोढियो में पुरुषो की सख्या अधिक है, तो यह समाज-रचना का परिणाम है, इससे यह नही समझना चाहिए कि इस रोग से स्त्रियो के लिए किसी तरह की निर्भयता या छूट है। छोटे बच्चो के शरीर में रोग-निवारण की शक्ति की बिल्कुल कमी, और बचपन में आवरण त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के कोमल और नाजुक होने के कारण, जैसे कोढी के नजदीक रहने से बच्चो को यह बीमारी लग जाने का पूरा डर रहता है, वैसे ही असावधानी से कोढी के निकट सम्पर्श मे रहने से युवा स्त्री-पुरुषो को भी यह रोग लग सकता है। यद्यपि कोढियों की सन्तान जन्म के समय से ही कुष्ठ-पीडित नही होती, और जन्म के बाद ही रोग-पीडित माता-पिता से

---

* यह भूमिका बि ए लेप्रसी रिलीफ एसोसियेशन की सी पी और बरार प्रातिक शाखा के एक्जिक्यूटिव कमेटी के चेयरमैन, कर्नल सर क वि कुकडे, सी आइ. इ., आइ एम् एस्, एल एम् एंड एस् (बंबई) एल् आर सी पी एंड एस् (एडिनबरा) रिटायर्ड इन्स्पेक्टर जनरल आफ सिविल हास्पिटल्स सी. पी ने लिखी है।

अलग कर देने पर नीरोग रह सकती है, तथापि कोढियो की सन्तान के शरीर मे इस रोग का प्रतिकार करने की शक्ति दूसरों की सन्तान की अपेक्षा कम होती है, और इस वजह से कोढियो के वाल-वच्चो को किसी खास मौके पर इस रोग के लग जाने की अधिक सम्भावना रहती है। यही वात क्षय और कैंसर के रोगियो के वारे मे भी होती है।

कोढ प्रकट होजाने पर, उसका यदि समय रहते अच्छा इलाज न हुआ तो फिर उसकी हालत न पूछिए। प्राय रोग का प्राथमिक चिन्ह चेहरे पर दिखाई देने के कारण उसका छिपाना असम्भव रहता है, और रोग छुतहा होने के कारण लोग उसके पास फटकने से हिचकते है। कुटुम्व मे पति-पत्नी एक-दूसरे को छोड देते हैं, और गाँववालो को तो उसका गाव मे रहना भी नही सुहाता। उसके वीमार पडने पर कोई उसकी सेवा-शुश्रूषा करने तक की हिम्मत नही करता। रोग का जोर वढ जाने पर उसके हाथ-पैर पर घाव होजाते है और हाथ-पैरो की अगुलियां गलने लगती हैं। वास्तव में ऐसा कोढी (जिसे अग्रेजी में 'वर्न्ट् आउट केस' कहते हैं) रोगाणुओ से मुक्त होता है, उसके शरीर के कोढ के जन्तु नष्ट हुए रहते है, और इसके वाद वह छुतहा नही रह जाता। परन्तु उसकी इस वदशक्ल के कारण साधारण मनुष्य से उसकी ओर देखा नही जाता। घाव आँखो पर होने पर वह अन्धा तक होजाता है और गले मे होने पर उसकी आवाज तक जाती रहती है। इस प्रकार से विकृत होकर कई अगो मे दुर्वल होने पर, भीख माँगने के लिए भी ऐसे आदमी का सामने आना लोग पसन्द नही करते। सौभाग्य से दूसरे आकस्मिक या महामारी जैसे रोगो के द्वारा मृत्यु से उसका शीघ्र छुटकारा न हुआ तो उसको यह दुर्दशा वीस-वीस वर्षों तक भोगनी पडती है।

सव राष्ट्रो का यह अनुभव है कि जिस राष्ट्र ने इस रोग की ओर से आँखे वन्द की और इसे निर्मूल करने मे लापरवाही की नीति पकडी, उस राष्ट्र में यह रोग वरावर वढता ही गया, और इसके विपरीत

जिस राष्ट्र ने विशेष रूप से ध्यान देकर इसे उखाड फेंकने मे या इसके फैलने देने के खिलाफ शास्त्रानुकूल और प्रभावकारी उपायो पर अमल किया, उसे इस रोग का समूल नाश करने में बडी सफलता मिली। इस प्रकार आज इग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी, नार्वे आदि राष्ट्रो ने इस रोग के रोकने का जहाँतक हो सका, पूरा प्रवन्ध किया है। कभी-कभी वहाँ कुछ रोगी जो देखने में आते है, वे इस रोग को दूसरे देशो से लाये हुए होते है।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में इस रोग की जानकारी प्राचीन समय से है। इस रोग का दवा-पानी भी होता रहा होगा। पर रोग को रोकने का विशेष उपाय तो रोगी को अलग रखना ही था। उपाय कोई भी काम में लाया गया हो, यह सही है कि उससे रोग अपेक्षित रूप से रुका नहीं।

हिन्दुस्तान में इधर वहुत सालो से क्रिश्चियन मिशनरी लोग धर्म-परायणता और भूतदया से प्रेरित होकर कोढियो का दु ख दूर करने की कोशिश में लगे है। उनका उद्देश्य वीमारों का सिर्फ शारीरिक ही नही, वल्कि आध्यात्मिक दुःख निवारण करना भी होता है। सन् १९२५ ईस्वी में ब्रिटिश एम्पायर लेप्रसी रिलीफ एसोसिएशन की हिन्दुस्तान की मुख्य शाखा अर्थात् इडियन कौंसिल हिन्दुस्तान की राजधानी में स्थापित हुई और उसकी शाखाएँ हर प्रान्त में खोली गई और इस काम के लिए एक खासी रकम एकत्र की गई। सम्प्रति यह इडियन कौंसिल और इसकी उपशाखाएँ, प्रान्तीय सरकारें, डिस्ट्रिक्ट वोर्ड और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और करुणात्मक कार्य में हार्दिक रस लेने-वाले विभिन्न प्रान्तो के कुछ नागरिक अथवा उनके द्वारा स्थापित की हुई निजी सस्थाए, सव मिलकर इस देश से कोढ को निर्मूल करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न कर रहे है।

उनकी कोशिशो का थोडे में कुछ हाल नीचे दिया जाता है—

(१) रोग की उत्पत्ति, उसके फैलाव और उपचार के वारे में खोज करना।

गई है। वल्कि इसका कार्य-क्षेत्र ऐसा रखा गया है कि इसमें की शास्त्रीय और व्यावहारिक जानकारी कोढियो में काम करनेवाले और साधारण जनता को करा देना, इसके प्रतिबन्ध के काम में गडवड करने से होनेवाली जोखिम लोगो को सुझा देना और इस रोग को नेस्तनाबूद करने के लिए किसी खास मौके पर कुछ असुविधाजनक और कष्टकर उपाय की योजना हो तो सारे समाज की सहानुभूति और सहकारिता प्राप्त होने मे उपयोगी होना। मुझे आशा है कि इस पुस्तक में उपर्युक्त उद्देश्य वहुत अशो मे सिद्ध होगे। मेरी समझ में श्री दिवाण ने अपने इस परिश्रम से समाज को अपना ऋणी वनाया है।

श्री दिवाण ने इस उपयुक्त पुस्तक के लिए भूमिका लिखने का मान मुझे दिया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। अन्त मे यह चाहता हूँ कि उनके इस प्रशसनीय उद्योग को जनता का पूरा-पूरा आश्रय मिले और उनके प्रयत्न से कम-से-कम उस हिस्से मे, जहाँ वह काम कर रहे है, इस अत्यन्त क्लिष्ट और दुखदायक व्याधि का समूल नाश हो।

नागपुर

कृ० वि० कुकडे।

२ मई १९४०

निवेदन

कुष्ठ (कोढ) का नाम हिन्दुस्तान में वैदिक* कालसे सुना जाता है, और उसके इलाज के लिए चालमुग्रा तेल का उपयोग भी उतने ही पुराने जमाने से होता चला आता है। दूसरे देशों में तो यह रोग खतम होने आया, लेकिन हिन्दुस्तान में अभी इसकी जड़ जमी हुई है। प्रान्तीय भाषाओं में इस विषय की कोई मान्य पुस्तक नहीं है। हम म्यूर, लो, वेड, मिट्सुदा या हयाशी सरीखे कोढ़ रोग की जानकारी रखनेवाले किसी भारतीय अन्वेषक का नाम नहीं पेश कर सकते। इस रोग के रोगियों का दुःख दूर करने को अपना सर्वस्व दे डालनेवाले फादर डेमियन जैसे लोग हमारे यहां नहीं मिलते। कुछ विदेशी भाई हैं, जो कोढियों के लिए हमारे देश में स्वार्थत्यागपूर्वक कई संस्थाएं चला रहे हैं। हिन्दुस्तानियों की खोली हुई संस्थाएँ तो अंगुलियों पर गिनने-भर को भी नहीं हैं। यह नहीं है कि हिन्दुस्तान में भूतदया, सेवा की भावना और अन्वेषक बुद्धि का अभाव हो। फिर यह उदासीनता क्यों? अपने १५–२० लाख भाई जीते जी मौत से भी बदतर रोग में पड़े सड़ा करें और हम चुपचाप आँखें खोले देखते रहें, यह 'दया' का मजाक ही तो है या और कुछ?

इस पुस्तक का उद्देश्य इस हालत को बदलना है। यह बात होगी

---

* सुश्रुत-संहिता में कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त इत्यादि रोगों का जिक्र है। उसमें साधारण त्वचा-रोगों के लिए 'कुष्ठ' शब्द बर्ता गया है। फिर उसके 'महाकुष्ठ', व 'क्षुद्रकुष्ठ' नाम से दो भाग करके क्रम से ७ और ११ उपभेद किये गये हैं। उनमें 'अरुणकुष्ठ' के लक्षण आज जिसे कोढ कहते हैं उससे मिलते-जुलते जान पडते हैं। इस पुस्तक में सब जगह इसके लिए कोढ़ शब्द बर्ता गया है।

लोगो म इस मामले मे जो अज्ञान और वहमी कल्पनाएँ है उन्हे दूर करने से। वास्तव मे तो अज्ञान ही रोग है और ज्ञान ही तारनहार है।

शास्त्रीय आधार को कायम रखकर लौकिक पद्धति से कोढ का सागोपाग सरल विवेचन इस पुस्तक मे किया गया है। यथाशक्य भाषा सरल, प्रकरण छोटे और पारिभाषिक सज्ञाओ का कम इस्तेमाल करते हुए इस अपरिचित और कुछ क्लिष्ट विषय को सुलभ करने की कोशिश की गई है। पुस्तक को आकर्षक के वजाय उद्बोधक और शास्त्रीय की अपेक्षा सुगम वनाने की ओर नजर रक्खी गई है। इसमें मनोरजकता चाहे न हो पर रोगियो के बारे में सहृदयता है, साहित्य न हो पर सह-हित है। सुशिक्षितो के बजाय सिर्फ भाषा जाननेवाले जिज्ञासु पाठको का खयाल रखकर यह लिखी गई है। इतना मानकर चलना तो अनिवार्य था कि शरीर-विज्ञान का साधारण ज्ञान पाठको को है। पाठको को शारीरिक विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान न हो तो अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। विना इसके ७वाँ और १७वाँ प्रकरण समझना मुश्किल होगा। त्वचा और मज्जातन्तु की रचना और कार्य के सम्बन्ध की जानकारी इसीलिए खासतौर मे इस पुस्तक मे शामिल की गई है।

यह पुस्तक खासकर म्यूर के लेप्रसी, डायग्नासिस, ट्रीटमेट ऐड प्रिवेशन'की छठी आवृत्ति और लो की 'लेक्चर नोट्स आन् लेप्रसी', इन दो अधिकारी ग्रथो के आधार पर लिखी गई है। कुछ हिस्सा तो उनका भावानुवाद ही है। इसके सिवा राजर्स और म्यॉर के 'लेप्रसी', 'लेप्रसी इन इडिया' त्रैमासिक के पुराने अको का और डा० डी एन मुकर्जी के 'शार्ट नोट्स' इत्यादि का आवश्यक उपयोग किया गया है। रुग्णक, काल-कुष्ठ, कुष्ठिका, वेधक व्रण इत्यादि कुछ शब्द नये भी गढने पडे है।

इस कार्य में अनेको ने अनेक तरह की सहायता की है। वर्धा डिस्ट्रिक्ट

लेप्रसी कौंसिल और इंडियन कौंसिल ने भी यथाशक्य सहकार किया है। इन सबका मंडल और मैं ऋणी और कृतज्ञ हूँ।

अन्त में अपने मन की हालत कहूँ तो 'माल मालिक का गुवाल के हाथ में लकडी' वाली कहावत है। पुस्तक में कहीं कुछ सुझानेलायक जान पड़े तो पाठक जरूर सुझावे। उसपर विचार किया जायगा।

समाज का इस सवाल की ओर ध्यान हो और इस रोग की जड दूर हो, यह प्रार्थना है।

सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु। सर्वे सन्तु निरामया।

वर्धा

१० अगस्त १९४० मनोहर बलवन्त दिवाण

भूतदया का मंत्र और विनियोग

कोढ सम्बन्धी जानकारी के लिए मराठी भाषा में प्राय यह पहली ही पुस्तक है। प्रत्यक्ष सेवा करते हुए लोक-शिक्षण के निमित्त आवश्यकता देखकर यह लिखी गई है। मुझे आशा है कि इसका ठीक उपयोग होगा। कोढ खास कर गावो का रोग होने के कारण हमारे ग्रामसेवको के लिए यह पुस्तक काम की होगी।

मराठी भाषा में आज इस विषय पर यह अकेली पुस्तक सामने आ रही है। इसकी वजह है कि कोढियो की सेवा की ओर आज भी हमारा ध्यान नही गया है। जो कुछ थोडा-बहुत सेवा-कार्य चल रहा है वह ईसाई लोग कर रहे हैं। मानो हमने यह काम ईसाइयो के जिम्मे सौंप रखा है। ईसाइयो के लिए यह भूषण है, पर हमारे लिए वही दूषण है। ऐसा होने का कारण क्या है ? मुझे जान पडता है —हमने 'भूतदया' इस महान् शब्द का उच्चारण किया। ईसाईधर्म ने 'मानवदया' (ह्यूमेनिटी) इस मर्यादित शब्द का उच्चारण किया। 'भूतदया' शब्द का उच्चारण करने की वजह से एक ओर मासाहार-निवृत्ति जैसे बडे प्रयोग हम थोडे-बहुत कर सके, पर दूसरी ओर मानवदया मे, जो भूत-दया के पेट मे अपनेआप और प्रथम ही आनेवाली चीज है, हम बेखबर रहे।

इस विसगति से मुक्त होने के लिए भूतदया शब्द छोडने की जरूरत नहीं है। शब्द महान् है और वही योग्य है। इससे वृत्ति को व्यापक रखने मे मदद मिलती है। पर वृत्ति व्यापक रखकर वर्त्ताव भी विशिष्ट होना चाहिए। आत्मा महान् होने के कारण उसकी मर्यादा बाँधना ठीक नही। पर देह मर्यादित होने के कारण मर्यादा छोडना भी

सभव नही है। मानव की भूतदया का आरम्भ ही नही वल्कि उसका मुख्य कार्यक्षेत्र भी मानव ही रहनेवाला है, यह हमे नही विसरना चाहिए। और शब्द व्यापक ही रखकर मानव के वाहर जितनी मानवता लेजाई जासकती है उतनी लेजाने की गुजायश रखलें तो हमारा काम वन जाता है।

हमारे समाज मे दयाभाव की कमी तो मुझे नही जान पडती। पर दूसरी वहुतसी वातो की तरह हमारा दयाभाव अव्यवस्थित है। जव वह व्यवस्थित होगा तव हमारा महान् शव्द और हमारा महान् देश इस महारोग कोढ को-फिर वह रोग खुद कितना ही महान् क्यो न हो—जीवित नही रहने देगा। हमे आशा करनी चाहिए कि वह समय शीघ्र ही आनेवाला है, और यह पुस्तक इसकी शुभसूचना देनेवाली सिद्ध होगी।

पवनार

२७–८–४०

विनोबा

कोढ़

पहला प्रकरण

कोढ़ का इतिहास

कोढ का आदिस्थान अफ्रिका है या एशिया इस बारे में एक मत नही है। सभवत अफ्रिका में आरभ हुआ होगा। कुछ बहुत पुराने वक्त के प्रमाण पाये जाते हैं। उनमें पहला स्थान वेद में 'कुष्ठ' रोग के उल्लेख का है। ईस्वी सन् के १५५० वर्ष पहले के इवर के पपरिस मे 'उचेड़् नाम से कोढ से मिलते-जुलते रोग का जिक्र है। ईस्वी सन् के १३५० वर्ष पहले के मिस्र मे मिले हुए प्रमाण के आधार पर तो कहा जाता है कि वह सूडान से मिस्र में गुलामो के द्वारा पहुँचा होगा। पर यह प्रमाण सशयग्रस्त है। जो हो, इतना सही जान पडता है कि प्राचीन समय में कोढ के एक देश से दूसरे देश में फैलने में चढाइया और गुलामो का व्यापार बडे साधन थे। इस जमाने में भी वही बात है।

बहुत पुराने समय मे मध्य अफ्रिका, हिन्दुस्तान और मिस्र मे कोढ था। वहाँ वह आज भी है।

हिन्दुस्तान मे वह पूर्व की ओर फैला। प्राचीन चीनी ग्रन्थो मे उसके होने के प्रमाण नहीं है। पर ईस्वी सन् के २०० से १०० वर्ष के पहले के ग्रन्थो में तो उसका साफ जिक्र है। पहलेपहल उसका उल्लेख चाऊ राज्यशासन के समय में मिलता है। और शाटुग प्रान्त मे उसकी शुरुआत होने की बात कही जाती है।

मिस्र में वह भूमध्यसागर के पूर्व की ओर फैला। यहूदियो की बायबल में 'ज़राथ' नाम के रोग का जिक्र अनेक बार आया है। सम्भवत

इस नाम से अनेक प्रकार के त्वचा—चर्म-रोगो का उल्लेख होता रहा होगा। ईस्वी सन् १५० के मध्य मे यहूदी पुस्तको के अनुवाद हुए। उसमें त्वचा के रोग अर्थात् 'झराथ' का अनुवाद 'लेप्रा' हुआ मिलता है। भूल मे ऐसा हुआ जान पडता है। यूनान में हिपोक्रेटिस के जमाने मे कोढ नही रहा होगा। ईस्वी सन् से पूर्व ३४५ मे अरस्तू के जमाने मे कोढ की साफ-साफ चर्चा मिलती है। उस वक्त कैम्बिसिस, डरायस और जेरकसीज नामक ग्रीक योद्धाओ की मिस्र और एशियामाइनर मे जो चढाइया हुई उनकी वजह से ग्रीस में उसका आगमन हुआ होगा। प्राचीन अरबी पोथी-पन्नो में कोढ का 'ज्यूदसम' (जुदाम) के नाम से उल्लेख हुआ है। उसका भी ऐसी ही भूलभरी कल्पना से अनुवाद हुआ है। पर एक बार जो 'लेप्रा' शब्द चला, आज भी वह यूरोपीय भाषाओ मे चलता जारहा है।

रोमनों में (इटली में) ईस्वी सन् पूर्व ६२ मे पूर्व की ओर पाम्पी के सैनिको की मार्फत उसने प्रवेश किया। आगे के रोमन इतिहास में उसकी चर्चा लगातार मिलती है। रोमन साम्राज्य के साथ ही उसने यूरोप के दूसरे राष्ट्रो में भी अपने पाँव फैलाये। ईस्वी सन १८० मे उसके जर्मनी में घुसने का उल्लेख है। ईस्वी सन् ६०० तक इटली और जर्मनी मे सैकडो कोढ-आश्रम (लेपर असाइलम) खुलने की चर्चा मिलती है। स्पेन में छठवी सदी में उसका प्रवेश हुआ। जान पडता है रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सरसिन लोग उसे फ्रास मे लेगये। इग्लैड में पहला कोढ-चिकित्सालय सन् ६३८ मे नॉटिंघम मे स्थापित हुआ। फिर स्काटलैण्ड, नार्वे, आइसलैंड, डेन्मार्क, स्वीडन, रूस इत्यादि देशो में उसका फैलाव हुआ। ईस्वी सन् १००० से १४०० के बीच में कोढ हर जगह था। सन् १२०० के करीब वह ज्यादा-से-

ज्यादा बढ़ा हुआ जान पडता है। यह माना जाता है कि इस फैलाव मे धर्मयुद्ध का ज्यादा हाथ था। तेरहवी सदी से वह घटना शुरू हुआ। कुछ फुटकर स्थानो को छोडकर सत्रहवी सदी मे यूरोप में वह नही के बराबर रह गया। हिसाब से एक हजार वर्ष तक यूरोप मे उसका डेरा रहा। यूरोप में उसके नष्टप्राय होने के कारणो का निश्चय करना कठिन है। तथापि मुख्य दो कारण सामने हैं—(१) कोढियो को दूसरो से अलग कर देना, (२) रहन-सहन और गाव की सफाई के सार्वत्रिक सुधार। जहाँ इन दोनो उपायो का अमल होने में देर हुई वहाँ उसके ज्यादा-से-ज्यादा सालो तक टिके रहने के प्रमाण मिलते है।

यूरोप मे कोढ के घटने का जो समय था वही पश्चिमी गोलार्द्ध—'उत्तर अमेरिका और वेस्ट इण्डीज मे उसके फैलने का। यूरोप से आकर बसनेवाले और अफ्रिका के गुलाम इसके खास कारण थे। दक्षिण अमेरिका में स्पेनिश और पोर्तुगीज चढाइयो के कारण उसकी पैठ हुई। आगे चलकर नीग्रो गुलाम और चीनियो की वजह से वह ज्यादा फैला।

पिछली सदी के आधे भाग मे चीनी औपनिवेशिको की मार्फत पैसिफिक टापुओ में उसका प्रवेश हुआ जान पडता है। हवाई टापू, न्यूकैलेडोनिया, लायल्टी, मार्क्वसास इत्यादि टापुओ मे तो हाल मे उसके पैर पडे हैं। इन टापुओ में पहले उसका कोई नाम तक नहीं जानता था। न्यूकैलेडोनिया मे १८६५ के करीब पहला कुष्ठरोगी आया। उसके बाद फिर तो दस वर्षों में ही कही-कही एक-चौथाई से ज्यादा लोगो को उसने अपना शिकार बना लिया। नारू में तो कोढ का फैलाव वर्तमान पीढी के देखते-देखते हुआ है। वहा वह घुसकर धीरे-धीरे बढ रहा था, पर सन् १९१८ के इन्फ्लुयेंजा के आक्रमण के

बाद तो एकदम सपाटे से बढने लगा। कुछ ही सालो में बीस फीसदी आदमियो को उसने बदशकल बना दिया। हां रोग का स्वरूप सौम्य था। इसका प्रकोप तो शीघ्र ही रुक गया। अब वह कमी पर है।

आज अल्पाधिक प्रमाण में कोढ ससार के बहुतेरे देशो मे पाया जाता है।

इस इतिहास से मालूम होता है कि कोढ कुछ देशो में हजारो वर्षों से अड्डा जमाये बैठा है। बीच-बीच मे वह दूसरे हिस्से में जाता है, वहा वह लम्बे काल की सक्रामकता का रूप पकडता है और फिर घटता है। इतिहास और आधुनिक खोज से यह सिद्ध होता है कि यह रोग सस्कृति की विशिष्ट अवस्था और सामान्य रहन-सहन के सुधार की कमी-वेशी पर निर्भर रहनेवाला है। खासकर इसके फैलाव का खास कारण झुण्ड-के-झुण्ड मनुष्यो का स्थानान्तर करना है। रोगरहित देशो मे जानेवाली सेना, गुलाम और मजदूरो की वजह से यह पसरता है। इसके पुष्ट होने अथवा नेस्तनाबूद होने के रुख का भी इतिहास मे पता चलता है। समूचे समाज का रोग की रोकथाम के लिए सीधे पर आवश्यक उपाय काम मे लाना, समूचे समाज का रोग के स्वरूप के बारे मे सचेत होना और समूचे समाज की रहन-सहन की पद्धति के बारे में सुधार होना इसकी जड खोने की प्रधान शर्त है।

दूसरा प्रकरण

कोढ़ का फैलाव

कोढ आज उष्ण कटिबन्ध* का रोग माना जाता है। और इस समय वह खासकर वही पाया जाता है। पर जैसा कि हम पहले प्रकरण मे कह चुके है, उसके सिवा भी वह बहुत देशो में था और है। इस समय मध्य-अफ्रिका, हिन्दुस्तान, चीन और दक्षिण अमेरिका में उसका खासतौर से अड्डा है। अधिक-से-अधिक रोग-ग्रस्त हिस्से उष्ण कटिबन्ध में पडते है। पर शीत-कटिबन्ध में भी वह पाया जाता है। ग्रीनलैण्ड, आइसलैण्ड, नार्वे, बाल्टिक समुद्र के किनारे के देश, कनाडा—ये सभी शीत कटिबन्ध में है। उनमें आज भी कोढ मौजूद मिलता है। सम-शीतोष्ण प्रदेशो में वह कभी पूरी तौर से था। भिन्न-भिन्न कारणो से वहाँ आज कम हो गया है। तापमान, नमी और घनी जनसख्या उसके फैलाव के लिए अनुकूल है। ये सब बातें उष्णकटिबन्ध के कुछ हिस्सो में पाई जाती हैं। उसके फैलाव में सामाजिक रीति-रवाजो का भी बहुत-कुछ हाथ है। विशेषत विषयातिरेक और व्यभिचार कोढ के फैलने में मददगार होते है। अफ्रिका और पैसिफिक टापुओ के आदिनिवासियो और वैसे ही हिन्दुस्तान के पिछडे हुए वर्ग में इस प्रकार से इस रोग के शिकार हुए लोग बहुतायत से पाये जाते है। चीन में, खासकर दक्षिण की ओर घनी बस्ती वाले उष्ण प्रदेश में, कोढ पाया जाता है। वहाँ गन्दी परिस्थिति में, तग जगह में, निकृष्ट रहन-सहन में जिन्दगी बितानेवालो की सख्या अधिक है। अफ्रिका में नाइगेरिया और बेल्जियन कागो और दक्षिण अमेरिका में ब्रेजिल में भी इन्ही कारणो से उसका कोप रहा है।

---

*पृथ्वी का वह भाग जो कर्क और मकर रेखाओ के बीच में पडता है।

हिंदुस्तान मे फैलाव

हिंदुस्तान के एक वडे हिस्से मे कोढ ने अपने हाथ-पाव फैला रक्खे है। आदिनिवासियो मे वह पुराने जमाने से चलता आरहा है। उसकी रोक-थाम के खयाल से जातीय रीति-रिवाजो-सवधी रूढियाँ भी पाई जाती है। कुछ जातियो में, जहा उसका नाम-निशान भी नही था, इधर जगलो की वस्तियो से मजूरी के लिए वडे-वडे शहरो मे या उद्योग-केंद्रो में जाने पर उसका प्रवेश होगया। वहाँ उन्हे उसकी छूत लग जाती है और जव वे अपने स्थान पर वापस लौटते है तो उनसे जगल के दूसरे अधिवासियो मे वह फैलने लगता है।

वर्मा में इसका काफी जोर है। आसाम की दोनो घाटियो मे यह पाया जाता है। वाहर के रोग-ग्रस्त भाग में जहाँ मजदूर वडी तादाद में भर गये है वहाँ इसका विशेष रूप से प्रकोप है। विहार-वगाल के मध्य में छोटा नागपुर और गगा किनारे के सपाट प्रदेश के वडे हिस्से मे एक दक्षिणोत्तर पटिया की पटिया ही है, जिसमे गया, सथाल परगना, वीर-भूम, पश्चिमी वर्दवान, मानभूम (पुलिया), वाँकुडा और मिदनापुर जिलो का समावेश है। यही पटिया नीचे की ओर उडीसा और मद्रास इलाके में वालासोर, पुरी, गजाम और गोदावरी तक फैली हुई है। मद्रास का और दूसरा हिस्सा जहाँ इसका ज्यादा जोर है अरकाट और सेलम जिले है। त्रावणकोर, कोचीन और मलावार में भी इसकी वहुतायत है। मध्यप्रात के छत्तीसगढ और वरार-विभाग में भी ऊपर के जितना ही है। नैपाल से सटे हुए विहार के हिस्से और सयुक्तप्रात मे भी, कम होने पर भी, है सर्वत्र। हिमालय मे और काश्मीर मे यह मुश्किल से मिलता है। इसका कारण आत्यतिक हवामान और जगली रहन-सहन होसकता है। पूर्वी हिंदुस्तान में कोढ की प्रवृत्ति सार्वत्रिक

न होकर मर्यादित—दो-चार केंद्रो में ही—रहने की थी। पर जबसे आमदरफ्त के साधन बढे और फैले, कल-कारखानो की बाढ़ हुई, जातियो का पारस्परिक व्यवहार बढा, बड़ी तादाद में लोगो का इधर मे उधर जाना आसान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से में भी रोगग्रस्त हिस्से की तरह इसके फैलने की सुविधा होगई।

तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

हिंदुस्तान में कोढ के दायरे को चार शीर्षको मे बाँटा जाना चाहिए—(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४) स्त्री-पुरुष-भेद।

स्थान

हिंदुस्तान में कोढ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुमशुमारी के अंको के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नही है। पिछले दस सालो में कोढ-सबंधी जाच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सो में हुआ है। १९२१ की मर्दुमशुमारी में कोढियो की तादाद १,०२,००० थी। १९३१ में वह १,४७,९११ मिलती है। इसमे यह नतीजा नही निकालना चाहिए कि रोग बाढ पर है। इतना ही कहा जासकता है कि पहली जाँच में कुछ ढिलाई रही होगी और पिछली जांच चौकस हुई होगी। विशेषज्ञो की ओर से खास कोढ़ के सबंध में जो जाँच हुई, उसमें रोगियो की तादाद असली मर्दुमशुमारी की तादाद से कही तिगुनी तो कही बीस गुनी से ज्यादा पाई गई। मर्दुमशुमारी की सख्या से

हिंदुस्तान में वास्तविक कोढियो की तादाद दस गुनी होगी यह मानने में कोई अतिशयोक्ति नही है। हिंदुस्तान में कम-से-कम १५ लाख कोढी होगे। कुछ पीडित प्रदेशो मे रोगमान का परिमाण २ प्रतिशत है, कुछ थोडे हिस्सो में ५ से ७ प्रतिशत और कुछ गांवो में २० प्रतिशत तक पहुचा हुआ है। प्रत्यक्ष जाच से यह सख्या मालूम की गई है।

रोग के प्रकार

कोढ के प्रकारो का विस्तृत वर्णन १० वें प्रकरण में करेंगे। मुख्य प्रकार उसके दो है :(१) सौम्य कुष्ठ (न्यूरल) अथवा असासर्गिक प्रकार, (२) कालकुष्ठ (लेप्रोमटस) अथवा सासर्गिक प्रकार।

अनुभव किया गया है कि हिंदुस्तान में आरम्भिक सौम्य प्रकार के—ससर्ग (छूत) न फैलानेवाले रोगी सैकडे ७०-७५ पाये जाते है। कालकुष्ठ के—ससर्ग फैलानेवाले २०-२५ प्रतिशत मिलते है।

उम्र

किस उम्र के कितने रोगी पाये जाते हैं, इस विचार का विशेष महत्त्व नही है। अधिक उपयोगी यह देखना होगा कि कोढ के आम तौर से किस उम्र मे किस परिमाण में होने की सम्भावना रहती है। इसके लगने की उम्र की जाच के लिए एक सस्था मे ४०० रोगियो के अक एकत्र किये गये। उनमे हरेक की जवानी मालूम हुआ है कि पहले लक्षण ३० साल की उम्र होने के पहले दिखाई देने लगे। कोढ के आरम्भिक लक्षण शीघ्र ध्यान मे नही चढते। बहुत काल तक सुप्तावस्था (क्विसेंट स्टेट) में रहते है। ससर्ग लगने के बाद प्रथम लक्षण प्रकट होने में भी इतना ही लम्बा समय लगता है। इन बातो के विचार से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अधिक उदाहरण इसके बचपन मे, युवावस्था में और प्रौढावस्था के बिलकुल आरम्भ मे होने के है। ३०

साल की उम्र के बाद रोग होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। वह ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होती।

दूसरी खास बात है कि (बचपन में लगे रोग के ज्यादा जोर पकडने की अधिक सम्भावना रहती है और प्रौढावस्था मे लगा भी तो साधारणत सौम्यस्वरूप का ही होता है।)

स्त्री-पुरुष भेद

सारे कुष्ठग्रस्त देशो में (स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में कोढ अधिक मिलता है) मामूली तौर से दूने का फर्क है। इस भेद की सफाई में कुछ लोगो का कहना है कि समाज मे स्त्रियो की जाँच का काम दुष्कर है। उनके बारे में पूरी रिपोर्ट नही मिलती होगी। हिंदुस्तान में तो परदे का रिवाज होने से इस अनुमान के लिए बडी गुजाइश है। सयुक्तिक दिखाई देने पर भी यह अनुमान सही नहीं है। उदाहरण के लिए यूगाडना को लीजिए। वहाँ तो स्त्री-पुरुष दोनो ही बिलकुल कम-से-कम कपडे पहननेवाले है। वहां कोढ की जाच हमेशा अनावश्यक वस्त्र उतारकर की जाती है। उनमे भी स्त्रियो से पुरुष रोगियो की सख्या डबल पाई जाती है। और इसके सिवा वहाँ यह भी देखा जाता है कि पुरुषो से स्त्रियों में यह रोग अपेक्षाकृत सौम्य रूप लेता है। दूसरी जगहो का भी यही अनुभव है। इससे जान पडता है कि स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में उसका परिमाण बढा हुआ है और स्वरूप भी तीव्र रहता है।

स्त्री-पुरुषो मे भिन्न-भिन्न उम्र की दृष्टि से रोगमान का लेखा देखा जाय तो उनमें भी ऐसी ही विचित्रता पाई जाती है। बचपन मे दोनो का लेखा एक-सा रहता है। पर युवावस्था आने पर अथवा उसके बाद के कुछ वर्षों में स्त्रियो में रोग का जोर ज्यादा होने की प्रवृत्ति रहती

हैं। उसके बाद तो पुरुषो का नम्बर ही बढा मिलता है।

इन दोनो वर्गों में रोग के प्रमाण और तीव्रता में भेद होने की वजह क्या है, यह कहना मुश्किल है। सम्भव है शरीर-रचना के भेद, बाह्य परिस्थिति या रहन-सहन के भेद के कारण ऐसा होता हो। यह सर्वमान्य बात है कि कुछ रोगो में स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो को ससर्ग-छूत लगने का डर रहता है। पर कोढ के सबध मे यह बात जितनी स्पष्ट है उतनी दूसरे रोग मे नही पाई जाती।

साराश, हिंदुस्तान मे रोगमान हजार में तीन है। कही वह बीस से भी ऊपर पहुचता है। इनमें से दो-तिहाई से तीन-चौथाई सौम्य प्रकार के रोगी हैं। एक-चौथाई से एक-तिहाई ससर्ग फैलानेवाले है। रोग साधारणत. बचपन में या युवावस्था में लगता है। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुष अधिक (लगभग दूने) कुष्ठविकृत होते है। इसके सवा उनमे स्त्रियो की अपेक्षा रोग का अधिक उग्र रूप धारण करने की ओर झुकाव रहता है।

चौथा प्रकरण

कोढ़ कैसे होता है ?

कोढ का नाम बहुत प्राचीन समय से सुना जाता है। अनेक देशो में वह फैला हुआ है। कही कम, कही ज्यादा, कही धीमा कही तीव्र, कही एक-सा हिसाब नही है। इसमे बडे चढाव-उतार हुए है। न सुधरो को छोडा, न पिछडो को बख्शा। कहीं सक्रामक रूप धारण करता है तो कही अड्डा जमाये बैठा मिलता है। इससे समझदारो के

मन में स्वाभावत. यह प्रश्न उठता है कि यह रोग कैसे पैदा होता है ? इसकी उत्पत्ति के बारे मे बहुत तरह के गलत-सही खयालात लोगो मे पाये जाते है । इन लोककल्पनाओ में कुछ सत्य का अंश, एक-तरफापन और कुछ अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है। शास्त्रज्ञो ने इन सब कल्पनाओ की छानबीन करके इसका रोगोत्पत्तिशास्त्र (इटियालोजी) बना डाला है। सन् १८७१ में हनसेन के कुष्ठजतु खोज निकालने के बाद इन विचारो में शास्त्रीयता आगई ।

कुछ लोक-कल्पनाए

प्राय पहली कल्पना है कि अमुक चीज खाने या न खाने से यह रोग होता है। कहीं लोगो की कल्पना है कि सरसो का तेल खाने से, कहीं मूगफली का, कहीं कोयने का, कहीं और किसी चीज का तेल खाने से कोढ होता है। दूध और मास इकट्ठे खाने से भी कोढ होने की बात सुनी जाती है। कुछ का कहना है कि जिस नमक पर छिपकली मूत गई हो उसे खाने से कोढ होजाता है। यूरोप में भी जे हचिसन ने सडी मछलियो के भोजन को कोढ का कारण बतलाया था । पर बाद को उसका मत बदल गया। जन्म से अर्थात् इस रोग से पीडित पिता-माता की कोख से जन्म लेने से यह रोग होने की कल्पना का भी जोर है। रोगी के सहवास से इसके लग जाने की कल्पना भी उतनी ही जोर-दार है। इन दोनो का आगे विस्तार से विचार किया गया है। उपदश (गर्मी) रोग से कोढ का बहुत निकट-सबध है, यह कल्पना भी पुरानी है। इन दोनो रोगो को एक ही 'मेह' नाम से पुकारते हैं। रजस्वला-काल में स्त्री-सग करने से इस रोग के होने की बात कहनेवाले लोग भी मिलते है।

इनमें कुछ कल्पनाए निराधार है। वे शास्त्रीय कसौटी पर नही

ठहरती। कुछ में सत्य का थोड़ा अंश है, उतनासा लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, अमुक वस्तु खाने से कोढ होता है इसके लिए कोई सबूत नही है। पर अशास्त्रीय आहार कोढ फैलाने के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करने का एक प्रमुख साधन जरूर है। यह मानने मे कोई हर्ज नही है कि सूखी या नमकीन मछलियो के सेवन से इसके फैलने में अप्रत्यक्ष सहायता होती है। खयाल रहे कि आहार का रोग-प्रतिकार-क्षमता (रेजिस्टेंस) से संबंध है और प्रतिकार की शक्ति का रोग के फैलने से। परंतु किसी खास खाद्य से रोग होता है यह मानने के लिए शास्त्रीय आधार नही है। वैसे ही इस खयाल के लिए भी कोई आधार नही है कि सिर्फ चना, सिर्फ काजू इत्यादि खाने से रोग जाता रहता है। कुछ का मानना है कि अन्न के द्वारा रोग लगता है, बाहर की छूत से नही लगता। यह भी सही नही है।

सांसर्गिकता-संबंधी कल्पना

पुराने जमाने से इस रोग से सब जगह के लोग डरते और घृणा करते रहे है। वैसे ही इस रोग के संबंध मे लोगो के जो खयालात जमे मिलते है उनसे जान पडता है कि इसके छुतहे होने की कल्पना लोगो मे थी। इसे आनुवंशिक मानने की ओर भी लोगो का कुछ झुकाव था। पर उसमे निश्चितता नही थी, उसमे अज्ञान और झूठे डर का मिश्रण दिखाई देता है। इसकी वजह से कोढियो के साथ बर्ताव करने मे क्रूरता का रिवाज चलता आया दिखाई देता है। यह ठीक है कि इससे रोग के रुकने में कुछ मदद मिली, लेकिन बहुत बार रोगियो को व्यर्थ कठोरता का भी शिकार होना पडता है।

रोग के स्पर्शजन्य (छुतहा) होने की कल्पना थी, तथापि उसकी स्पर्शजन्यता साधारण स्वरूप की थी या तीव्र स्वरूप की, इसकी कल्पना

नही थी । इसका भी विचार नही हुआ था कि सभी रोगी सासर्गिक दशा वाले होते है या कुछ । न इसीका विचार हुआ था कि रोग लगने का भय किसे, किस परिस्थिति मे और कितना होता है ? कितनोको रिवाजो का अतिरेक और कठोरता पसद नही आती, इसलिए वे एकवारगी दूसरे सिरे पर जाकर उलटे यह प्रतिपादन करने लगते हैं कि यह रोग सासर्गिक नही है । यो, लोकमत का काटा इधर से उधर झूलता रहता है । पहले कह चुके है कि यूरोप के बहुतेरे देशो मे अनेक कोढी-आश्रम थे । अकेले फास मे उनकी सख्या दो हजार से ऊपर थी । पहले अग्रेजो के यहा कोढियो के सबध मे जो कायदे थे उनके सबध मे व्यवस्थित तथ्य मिलता है । सर जेम्स सिम्सन ने निम्न-लिखित वर्णन दिया है—"कोढी को कुटुम्ब से अलग कर देते, विवाहित होने पर पत्नी को तलाक देदेना पडता, उसकी स्त्री को पुनर्विवाह करने की इजाजत थी । उसे कोढी-आश्रम में लाकर रखने के पहले पादरी कुछ विधिया पूरी कराता और अत्यविधि (मरणविधि) की भाति उसके शरीर पर मिट्टी भी डालता । कायदे की निगाह से उसे मरा मान लिया जाता । उसे एक खास तरह की पोशाक पहननी पडती । रास्ते से आते-जाते उसे एक खास तरह की आवाज करनी पडती । उसे होटलो, गिर्जो, कारखानो और दुकानो में घुसने की मनाही थी । छोटे बच्चो से कुछ भी लेने-देने पर रोक थी । वह सार्वजनिक जलाशयो का उपयोग नही कर सकता था । कोढियो को छोडकर दूसरो के साथ खाने-पीने पर प्रतिवध था । आम रास्तो पर न चलने देकर सकडी गलियो में से आने-जाने की आज्ञा थी । रास्ते मे वात करनी हो तो जोर से नही की जासकती थी । वाजार में कुछ खरीदना हो तो छडी के इशारे से वताना पड़ता । रहने का स्थान तो वस्ती मे वहुत ही दूर होता था ।"

अफ्रिका की पिछडी हुई जातियो मे भी ऐसे ही अथवा इससे भी कडे रीत-रिवाज प्रचलित होने के सबूत मिलते हैं। वहा तो रोगी को जबर्दस्ती अलग कर दिया जाता है और वही उसे खाना पहुचा दिया जाता है। सेनेगाल, आइवरीतट, कोमोरो बदर और मादागास्कर में १९२५ तक यह रिवाज था। हिंदचीन मे मर जाने पर रोगी को उसके बिछावन समेत जला देने की रीत है। गाडना हुआ तो ज्यादा गहरे गड्ढे मे गाडते हैं। चीन और जापान मे भी गाव से बाहर उनकी बस्ती बसाने की प्रथा है। जापान मे 'केन' नियम के अनुसार प्रतिष्ठित कोढियो तक को बहिष्कृत भिक्षुको की पात में जाना पडता है। अपने यहा मनुस्मृति मे भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है। उसकी मरण-क्रिया में नही जाना चाहिए, ऐसा लोकमत आज भी अपने यहा कहीं-कही दिखाई देता है। उन्हे 'पापरोगिण' यह नाम देने मे तिरस्कार की हद होगई है। इन बातो से इस रोग के संसर्गज होने की कल्पना और भय प्राचीन समय से जारी दिखाई देते हैं।

आनुवंशिकतासंबंधी कल्पना

पहले कहा जाचुका है कि सासर्गिकता की भांति आनुवंशिकता (हेरिडिटी) संबंधी खयाल भी पहले से चलता आया जान पडता है। चीन, जापान और अफ्रिका मे कोढ के आनुवंशिक होने का खयाल आज भी मौजूद है। हिंदुस्तान में अगर किसी रोगी से कहिए कि उसे कोढ है तो अनेक बार यह उत्तर मिलता है कि मेरे पूर्वजो में यह किसी-को नही था। इस जवाब मे यहा रोग के आनुवंशिक होने का खयाल समाया हुआ है।

यूरोप में भी सत्रहवी, अठारहवी, उन्नीसवी सदी में सन् १८७१ तक इस रोग के आनुवंशिक होने का खयाल खूब फैला हुआ था। पिछली

सदी में इस खयाल ने ज्यादा जोर पकडा। आनुवंशिकता और स्पर्श-जन्यता इन दोनो उपपत्तियो में होड-सी लगी हुई थी। कभी इसकी तो कभी उसकी प्रबलता होती थी। १८४८ मे डैनियलसेन और बोअक सरीखे अधिकारी विशेषज्ञो ने जो पुस्तक लिखी उसमें इस आनुवंशिकता की उपपत्ति पर जोर दिया। इस खयाल को उत्तेजन मिलने का कारण लंदन में 'रायल कालेज आफ फिजीशियन' की रिपोर्ट हुई। उसकी १८६२ की रिपोर्ट में यह फैसला दिया हुआ मिलता है कि यह रोग सांसर्गिक नहीं है और रोगी को बरबस अलग करने के लिए उपाय करने की आवश्यकता नहीं है। पर आगे मालूम हुआ कि यह निर्णय करने में गलती थी। इस रिपोर्ट के कारण प्रत्यक्ष रूप से यह फायदा तो हुआ कि उसकी वजह से दोनो मतो की अच्छी छान-बीन हुई। इन बातो की खोज की ओर जोर से ध्यान गया। उसके बाद तत्काल ही १८७१ में हनसेन ने सूक्ष्मदर्शक की सहायता से कुष्ठजंतु का होना सिद्ध किया। कुष्ठविज्ञान (लेप्रालोजी) में इस टक्कर की खोज अभी-तक नहीं हुई है।

आनुवंशिकता के विरुद्ध सबूत

कोढ आनुवंशिक है, ससर्गज नहीं, यह जो बीच के काल में प्रतिपादित किया गया उसका आधार क्या था, इसकी छान-बीन करने पर यह गलत साबित हुआ। कुछ का निरीक्षण मर्यादित क्षेत्र में था, इसलिए वे सही अनुमान नहीं कर सके थे। मालूम हुआ कि इनमे कुछको रोग के प्रत्यक्ष स्वरूप का अनुभव नहीं था। कोढ की आनुवंशिकता की कल्पना के विरुद्ध विशेषज्ञो के इकट्ठे किये हुए सबूत तीन भागो में बाटे जाते है —

१—सब कुष्ठवेत्ताओ का अनुभव है कि कोढ की बाढ के

साथ-साथ पुरुष रोगी की वंश-वृद्धि की शक्ति नष्ट होने लगती है। तब यह असभव है कि जो रोग वंशवृद्धि की शक्ति को नष्ट करता है वह स्वत आनुवंशिक हो।

२—हवाई द्वीप, न्यूकैलोडोनिया और मार्कस्वास द्वीप मे कोढ महामारी की तरह जोरो से फैला। सिर्फ बीस ही वर्षों की मीयाद मे वहा रोग ऐसी विलक्षणता से बढा कि आनुवंशिकता की कल्पना के लिए कोई गुंजाइश ही नही रह गई। इसके सिवा यूरोप-आगत निवासियो मे भी उसका ससर्ग फैल गया, जिनके पूर्वजो की पीढियो मे उसका नाम-निशान तक नही था। ब्रिटिश गायना और दूसरे उष्णकटिबंध वाले प्रदेशो मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

३—यदि यह रोग आनुवंशिक होता तो जहा इसने डेरा डाल दिया था वहांसे उखडने या कम होने की बात सामने न आई होती। इसका एक मजेदार उदाहरण नार्वे के १७० आदमियो का है। इनमें कुछ को प्रत्यक्ष रोग का आरम्भ हाल ही में हुआ था, बाकी को ससर्ग लग चुका था और वे रोग लगने की तैयारी में थे। उन्हे नार्वे से अमेरिका के समशीतोष्ण प्रदेश में बसने को भेज दिया गया। हनसेन ने बाद को उनकी जाच की तो उनमे से एक के भी प्रत्यक्ष रोग नही मिला। उनके वशजो में से किसीको भी होने का पता नही लगा।

इसकी अपेक्षा निर्णायक सबूत इधर कोढ-आश्रमो में रोगियो के जन्मे हुए बच्चो का है। कोढियो के पेट से हुए बच्चे जन्म से ही अलग करके पाले जाने पर निरोगी रहते हैं और उन्हे निरोगी सतान होती है, यह आज अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध होगया है। हिंदुस्तान मे तरनतारन (पंजाब) के कुष्ठ-निवास की रिपोर्ट और मादागास्कर के उदाहरण इस सबंध मे अध्ययन करनेयोग्य है।

यहा एक बात बताने की जरूरत जान पडती है। (यद्यपि कोढ आनुवंशिक नहीं है, तथापि उसकी रोग-ग्रहणशीलता (ससेप्टिबिलिटी) तो आनुवंशिक है। मतलब, कोढी की संतान को कोढ होजाने का डर दूसरो की संतान की तुलना में अधिक होता है और यह उन्हे जन्म से ही मिलता है। इसलिए ऐसे बच्चो को रोग से बचाने की ज्यादा खबरदारी रखनी चाहिए। क्षय रोग का भी यही अनुभव है।

स्पर्शजन्यता के विषय मे प्रमाण

आधुनिक विशेषज्ञो ने जो अनेक और सबल प्रमाण सामने रक्खे है उनसे इस रोग के स्पर्शजन्य होने और ससर्ग के कारण ही फैलने के विचार की पूरी पुष्टि होती है। ब्राउस, हिलिस, व्हाट, लेलायर के ग्रथो और हवाई द्वीप की रिपोर्ट में इसके व्यवस्थित प्रमाण एकत्र किये गये हैं। अपने यहा तो इसके इतने प्रत्यक्ष उदाहरण हैं कि उनका उल्लेख करने की भी जरूरत नही है। तथापि कुछ चुने हुए उदाहरण देना उपयोगी होगा—

१—एक मालगुजार का एक नौकर कोढी था। शुरूआत के बारे मे इसका किसीको पता नही था। वह गाव के पास के बाग मे मोट चलाता और बाग की रखवाली करता। उसकी रोटी वही पहुच जाती। वार-तेवहार वह घर भोजन के लिए जाता। बाग छोडकर वह प्राय कही जाता नही। मोट चलाना अथवा मालगुजार के छोटे बच्चे को लेकर बाग मे खिलाना या रखवाली करना यह उसका क्रम था। आगे चलकर उसका रोग बहुत भयकर होगया। मालगुजार के लडके को भी लग गया। पर उस कोढी का जो निज का लडका था वह बिलकुल ठीक पाया गया।

२—किसी छोटे द्वीप में जब नये सिरे से रोग होता है तो स्पर्शजन्यता के अभ्यास के लिए अच्छे साधन मिलते हैं। कनाडा के एक खड

के किनारे पर ट्रिकार्डी लेपर एसाइलम है। उसके पडोस में ही वेट्सी मैक्कार्थी नाम की स्त्री का जन्म हुआ था। वह सामने के प्रिंस एडवर्ड नाम के छोटे द्वीप पर रहती थी। उसकी जिंदगी के ५२ वे साल में उसे यह रोग फूटा। १८६४ में वह गुजर गई। रोग फूटने के पहले उसको पाच बच्चे होचुके थ। सबसे बडा लडका २० वर्ष का था। ये सब लडके रोगग्रहणशील (ससेप्टिबल) उम्र के थे। उनमें सबसे छोटी लडकी को छोडकर बाकी के बच्चो को एकसाथ ही रोग ने घेरा। इसके बाद उसका देहान्त होगया। छोटी लड़की की जान डेल नामक आदमी से शादी हुई। जान डेल को रोग ने घेरा और उसकी दो लडकियो को भी। एक आदमी ने चौथे बच्चे की सेवा-शुश्रूषा की थी, आगे चलकर उसे भी रोग लगा। उस स्त्री का जेम्स कमेरन नामक का दूसरा दामाद उसके सार्सगिक बच्चो के साथ उठता-बैठता था, उसे भी रोग ने सन् १८७० मे पकडा। इस प्रकार इस एक स्त्री की छूत मे ५ लडके, २ नाती और ३ दूसरे सबधी रोगग्रस्त हुए। तबतक उस टापू मे इसके सिवा और किसीको कोढ रोग नही था। घर मे छूत फैलने का यह एक खास उदाहरण है। दामाद, मित्र और नौकर के बारे में तो आनुवशिकता का कोई दूर का सबध भी नही जोडा जासकता।

३—हिंदमहासागर मे मारिशस के पास एक छोटा-सा रोड्रिग्यूज नामक टापू है। १८७५ से ८५ के बीच डियागो नामक एक मल्लाह मारिशस से वहा बसने गया। तबतक उस टापू मे किसीको कोढ नही था। ४–५ वर्ष बाद मल्लाह को कोढ फूटा। रोग के जोर पकडने पर वह एक पहाडी पर जाकर रहने लगा। तबसे सालभर के अदर-ही-अदर डियांगो के मालिक के लडके मे रोग के लक्षण प्रकट हुए। यह लडका नाव पर बराबर डियागो के साथ काम करता था। फिर तो सन् १९२०

के भीतर इस टापू मे २३ कोढी होगये । उनमें १६ मालिक के रिश्तेदार थे और वाकी ७ डियागो के सबधी ।

४—रायल कालेज आफ फिजिशियस, लदन की सन् १८६२ की रिपोर्ट के आधार पर उस वक्त चलते हुए कुछ कुष्ठ-निवास बद कर दिये गये। बाद मे पता चला कि उन स्थानो में कोढ की वृद्धि हुई। तब फिर उन कुष्ठ-निवासो को चालू किया गया। इससे भी कोढ के स्पर्श-जन्य होने की बात साबित होती है।

पति-पत्नी मे ससर्ग-प्रमाण कम क्यों है ?

पारस्परिक सबध के कारण रोग लगने के इतने उदाहरण मिलते है कि इसकी सासर्गिकता—छूत के बारे में शका की कोई गुजाइश नही रह जाती। फिर भी शका की एक वजह है। मानिए, कोई रोगी है। उसके ४–५ बच्चो को भी रोग लगा। पर उनकी स्त्री और उन बच्चो की मां रोगी पति से बराबर ससर्ग रखते हुए भी रोग से बची रहती है, ऐसे उदाहरण कई बार मिलते है। ऐसे उदाहरणो की अच्छी छानबीन किये बिना ही कितने ही लोग तय कर लेते है कि कोढ आनुवशिक है, स्पर्शजन्य नही। पति से स्त्री को और स्त्री से पति को रोग लगनेवाले उदाहरण भी मिलते हैं। पर संतान को माता-पिता से रोग लगने के जितने उदाहरण मिलते है उतने पति-पत्नी में नहीं मिलते, यह ठीक है। एक को कोढ था और बढ चला था। बाल-बच्चे नहीं होते थे। उसने पहली स्त्री के होते भी एक दूसरी जवान लडकी से शादी की। पहली स्त्री ज्यादा दिनो से साथ रहने पर भी रोगी नही हुई, पर यह दूसरी स्त्री दो-तीन वर्षों में ही रोग का शिकार बन गई। इसका कारण यह जान पडता है कि इस आदमी का रोग जब सासर्गिक दशा में पहुचा तो उसकी पहली पत्नी की उम्र रोगग्रहणशीलता से ऊपर होगई थी,

इसलिए उसे छूत लगनी मुश्किल थी। दूसरी रोगग्रहणशील उम्र में थी और पति सासर्गिक हालत में पहुचा हुआ था। ऐसी परिस्थिति में तावडतोड छूत लगना आसान था।

कोढ-रोगियो मे वहुतेरे ऐसे होते हैं कि उनका रोग दूसरो को नही लगता। कुछ सासर्गिक अवस्थावाले होते हैं, जिनसे वह दूसरो को लगता है। इसी तरह सवको रोग लगने का डर भी नही रहता। वचपन में, जवानी मे, आम तौर से २५ वर्ष की उम्र के अदर रोग लगने का अधिक अदेशा रहता है। ३० साल की उम्र के वाद लगता भी है तो सैकडे ५ को। पहले लोगो को इस मर्यादा की स्पष्ट कल्पना नही थी, इसी लिए इस तरह की गलत धारणा होती थी।

पांचवां प्रकरण

संसर्ग-प्रवेश

रोगी शरीर से प्रत्यक्ष स्पर्श होने पर दूसरे को लगनेवाले रोग को 'स्पर्शजन्य अथवा स्पर्शसचारी या छुतहा' (कान्टेजियस) रोग कहते है। रोगी शरीर से निकले हुए मल, मूत्र, पसीना थूक, लार, नेटा, उच्छ्वास वगैरह के द्वारा दूसरे को लगनेवाले रोग को 'ससर्गसचारी अथवा सासर्गिक' (इफेक्शस) रोग कहते हैं। साधारणत कोढ को स्पर्शजन्य कहा जाता है। अखीर की वहुत भयकर अवस्था मे पहुँचने पर वह सासर्गिक भी होजाता है।

ससर्ग-प्रवेश-द्वार

वर्तमान समय मे कुष्ठवेत्ता कोढ को स्पर्शजन्य मानते है। पर शरीर

में ससर्ग पहुँचने का निश्चित द्वार कौनसा है, यह आज भी निश्चयपूर्वक नही कहा जासकता। इस रोग के सूक्ष्म जतु होते है। उनके शरीर में घुसते ही शरीर की पेशिया (सेल्स) उनसे झगडती है। जतु-प्रवेश और उनके साथ होनेवाली पेशियो की प्रतिक्रिया के कारण शरीर में कोढ के लक्षण पैदा होते हैं। कोढ पैदा करनेवाले सूक्ष्म जतु * को 'कुष्ठ यष्टि जतु' अथवा लौकिक भाषा मे 'हनसेन के यष्टि जतु' (लेप्रा वसिलस) कहते है। वह अतिसौम्य विष वाला होता है। वह मानव-शरीर मे घुस सकता है, और घटक के सारे पेशी जालो (टिश्यू) में पसर सकता है। पर इसकी वजह से खयाल मे आनेलायक कोई भी लक्षण एकवारगी पैदा नहीं होता। ससर्ग अप्रकट अथवा ध्यान में न आनेलायक हालत में बहुत वर्षों तक रहता है। भयकर अवस्था मे पहुचे हुए कोढी तक मे समझ में आनेलायक लक्षण कम ही मिलते है। समाज मे तो साधारणत वह निरोगी माना जाता है। पर वह अपने सहवास में आनेवालो में लगातार रोग फैलाता रहता है। इस प्रकार रोगससर्गी मनुष्य मे भी वाहरी लक्षण सहजमहज नही दिखाई देते। ससर्ग लगने के वाद अनेक वर्षों तक तो ससर्ग लगनेवाले को पता तक नही चलता। इस दुहरे कारण की वजह से ससर्ग कव और कैसे लगा और किस ससर्ग-द्वार से, यह तय करना अशक्य-सा होता है।

---

* (सूक्ष्मजतु) (वैक्टिरिया) एकपेशीमय होते हैं और वहुत जल्दी विखर जाते है। इनके चार उपभेद है—(१) गोलजतु, (२) यष्टिजतु, (३) सूत्रजतु और (४) सर्पिलजतु। ये अपने नाम के अनुसार गोल, वारीक तिनके की तरह के, सूत की तरह के और सांप की आकृति के होते है। इसके फिर रोगोत्पादक और अरोगोत्पादक भेद हैं। (कुष्ठजतु यष्टिजंतु वर्ग के होते हैं। हनसेन ने १८७१ में इसकी खोज की थी।)

रोग की अप्रकट अथवा बिलकुल आरम्भिक अवस्था जानने मे उपयोगी साधन सामान्यत होनेवाले प्रयोग, जतुसवर्धन (कल्चर) और रक्तजल (सीरम) के द्वारा प्राप्त होते है। पर कोढ में वह भी काम मे नहीं आते। क्योकि कुष्ठजतुओ का मनुष्य-शरीर के बाहर आज भी कृत्रिम रीति से सवर्धन नही होपाया। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियो के शरीर में लस घुसाकर यह रोग पैदा नहीं किया जासका। प्रकट बाहरी लक्षणो से अथवा सूक्ष्म जतुशास्त्र (बैक्टिरियालाजी) की सहायता से जब रोग का निदान (रोग-परीक्षा) नही होपाता, तब रक्तजल के द्वारा परीक्षा करके रोग-निर्णय किया जाता है। पर कोढ के लिए ऐसी कोई रक्तजल विषयक परीक्षा भी अबतक आविष्कृत नही हुई।

रोग अथवा जख्म के कारण शरीर के पेशीजाल (टिश्यू) में जो रचनात्मक परिवर्तन होता है उसे रुग्णक (लीजन) कहते है। उपदश और दूसरे रोगो मे ससर्ग लगे हुए स्थान में ही पहला मुख्य रुग्णक पैदा होता है। कोढ मे रोग-ससर्ग-स्थान में ही पहला चकत्ता पैदा होने के प्रमाण मिलते है। पर साधारणत अधिक उदाहरणो में ससर्ग के सारे शरीर में फैल जाने पर उसके परिणामस्वरूप पहला चकत्ता उठता है। यह प्राय पहले फोडा हुए या जख्मी हुए स्थान पर ही उठता है।

उपर्युक्त कारणो से निश्चित ससर्ग-द्वार बतलाना मुश्किल है। तथापि विकुपित अवस्था (प्रगत) के रोगी के सहवास में आनेवाले के श्लेष्मल त्वचा के (म्यूकस मेम्ब्रेन) व्रण (घाव) अथवा खरोच लगे हुए हिस्से से कुष्ठजतु शरीर मे घुसते है, यह मानने के लिए भरपूर प्रमाण मौजूद है। छोटे बच्चो के नाक कुचरने, कडु रोग अथवा कृमिदश से परेशान होकर शरीर खुजलाने, शरीर पर के सादे या पीप वाले घाव वगैरा ससर्ग पहुचाने के बिलकुल आसान मार्ग है।

कोढी के उपयोग में आनेवाले जलाशय में स्नान-पान करने से रोग पैदा होने का पक्का प्रमाण अभी नही मिला है। कृमिदश से रोग फैलने के वारे में भी कोई माननेवाला आधार नहीं है। पर यह जान पडता है कि वहुत वार कुष्ठजतु को इधर से उधर करने में कृमि से मदद मिलती है। कोढी के रक्त से पुष्ट हुई मक्खिया, खटमल और जू के अगो पर कुष्ठजतु मिले है। कोढी के विछौने पर सोने से या उसके कपडो का व्यवहार करने से रोग लगने के उदाहरण दिये गये है। कोढी की चटाई पर नगे पाव चलने से अथवा उसके खाली किये हुए घर में रहने से रोग लग जाने के उदाहरण है। इससे यह मानने की ओर प्रवृत्ति है कि मनुष्य-शरीर छोडने के कुछ समय वाद तक ये जतु जिदा रहते है। रोगी शरीर के वाहर उसके जीवित रहने की शक्ति नाममात्र की ही होती है।

प्रत्यक्ष सघटनात्मक स्पर्श के कारण ससर्ग फैलता है, यह सिद्ध करनेवाले भरपूर और सवल प्रमाण मौजूद है। स्पर्श जितना निकटस्थ और दीर्घकालीन और रोगी जितना अधिक सासर्गिक और ससृष्ट, जितना अशक्त अथवा नाजुक उम्र का होता है, रोग लगने की सभावना उतनी ही ज्यादा रहती है।

रोगियों के दो प्रकार—सांसर्गिक और असांसर्गिक

कोढियो में सभी रोगी ससर्ग फैलानेलायक हालत को पहुचे हुए नही होते। साधारणत. माना तो यह जाता है कि होगे तो वे सासर्गिक ही, नहीं तो रोगी ही न होगे। कुछ सासर्गिक होते है कुछ असासर्गिक, कुछ आज असासर्गिक होने पर भी आगे चलकर सासर्गिक होजाते है, कुछ आज सासर्गिक है पर आगे फिर उनके असासर्गिक होने की सभावना है। ये वातें साधारण लोगो की मुश्किल से समझ में आने-वाली होने पर भी जरूरी है। इसके कारण रोग का स्वरूप समझने

और रोगी से व्यवहार करने मे सुविधा होती है।

कोढियो मे से थोडे (एक-चौथाई) रोगी ही सासर्गिक होते है। इधर हिंदुस्तान में जो जाचें हुई है उनसे पता चलता है कि (१० रोगियो में १ अतिसासर्गिक, १ साधारण सासर्गिक और ७–८ असांसर्गिक हालत वाले होते है।) त्वचा अथवा नाक की श्लेष्मल त्वचा की सूक्ष्मदर्शक यत्र द्वारा योग्य रीति से फिर-फिर निश्चित अवधि पर अनेक वार परीक्षा करने पर कुष्ठ-जतु न पाये जायें तो रोगी असासर्गिक समझा जाता है। इसकी यह सर्वमान्य कसौटी है। रोगी सासर्गिक है या असासर्गिक, यह सिर्फ देखने से अथवा वाहरी परीक्षा मे हमेशा तय नही किया जा सकता। इसके लिए सूक्ष्मदर्शकयत्र (माइक्रस्कोप) की जरूरत पडती है।

कोढ के मुख्य दो प्रकार है। उनमें कालकुष्ठ (लेप्रोमटस्) प्रकार के रोगी हमेशा रोग फैलानेवाले होते है। ऐसे रोगी की वाहरी त्वचा (एपिडर्मिस) की खरोची हुई झिल्ली पर कुष्ठ-जतुओ का दल-का-दल वहुत वार पाया जाता है। नेटे और थूक में, लार में, विशेषत रोगी के छीकने, खासने अथवा जोर से सास लेते हुए वाहर निकलनेवाले खखार वगैरा में जतु कसकर भरे रहते है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रा-रीएक्शन) होने पर नाक मे की और चमडी पर की गाठे फूटकर वहने लगने की अधिक सभावना रहती है। ऐसे स्राव में जतु खूब ही होते है और ससर्ग–छूत—लगने का भारी भय रहता है।

रोगप्रतिकार–क्षमता (रेजिस्टेंस)

रोग लगेगा या नही अथवा लगेगा तो कितना लगेगा, यह तय करने का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है ससर्ग लगेहुए (ससृष्ट) मनुष्य की रोगप्रतिकार-शक्ति। बच्चो की प्रतिकार-शक्ति विशेष करके जन्म

के वाद कुछ वर्षो तक बहुत कम होती है। छोटे बच्चो मे जितनी जल्दी-जल्दी और जिस उग्र रूप मे ससर्ग लगता है, उससे यह बात भलीभाति सिद्ध होती है। लेप्रोलिन परीक्षा से भी यह वात प्रकट होती है। सहचारी रोग, हीन पोषण और आरोग्य के प्रतिकूल रहन-सहन के कारण प्रतिकार-शक्ति क्षीण होती है। वैसे ही जवानी (प्यूबर्टी), गर्भ-धारण और दूध पिलाने के दिनो (लक्टेशन) में भी शरीर पर पडनेवाले जोर की वजह से भी प्रतिकार-शक्ति में कमी होती है। आरोग्य का प्रतिकूल वातावरण और रहन-सहन से बहुत निकट का सबध है। उसी तरह भिन्न जाति अथवा वर्ग के रक्त-सबध का भी नजदीकी ताल्लुक होता है। आगे १७वें प्रकरण में इसका अधिक विचार किया गया है।

ससर्ग की शक्याशक्यता

कोढ के सासर्गिक होने पर भी उसका ससर्ग सौम्य प्रकार का होता है। बहुतेरे रोगी असासर्गिक होते है। थोडे स्पर्शसचारी होते हैं। उनसे भी थोडे ससर्गसचारी होते है। ससर्ग ऊपरी और हलका-सा हुआ तो कुछ उपाय किये विना ही उत्तम आरोग्य के कारण उसके अपनेआप जाने की सभावना रहती है। ससर्ग साधारणत बहुत समय तक अप्रकट स्थिति में रहता है, बढने लगने पर भी धीरे-धीरे यथावकाश बढता है। लक्षण भी एकदम बहुत कुछ प्रकट नही होते। इसीलिए कोढ को जीर्ण (क्रानिक) और गुप्त सचारी (इसिडियस) रोग कहा जाता है। वह ज्यो-त्यो रोगी की वलि भी नही लेता। (नानफेटल)

एक खास उम्र और हालत में रोग लगने का डर ज्यादा रहता है। उत्तम प्रतिकार-क्षमता होने पर वाहरी प्रभावक ससर्ग होने की सभावना कम रहती है। कोढी की सतान को अलवत्ता दूसरो की

अपेक्षा ससर्ग लगने का डर ज्यादा रहता है।

प्रत्यक्ष सघटनात्मक और दीर्घकालीन मसर्ग हुए विना साधारणत ज्यो-त्यो रोग नहीं लगता। विशेपत शरीर कही से कटा, खुर्चा, खुला हुआ घाव और गीली त्वचा होने पर मसर्ग शीघ्र लगता है। मामूली तौर से वरावर कुछ दिनो का मसर्ग हो और वह भी वहुत निकट का, तव रोग लगता है।

पर विशेष परिस्थिति में वह हर किसीको होसकता है। मनुष्य-जाति का इस रोग सरीखा दुश्मन शायद ही कोई और होगा। इसलिए सदा इससे सावधान रहना चाहिए। कोढ का ससर्ग न होने देने के लिए टीका लेने का उपाय नकली जैसा है। अत सासर्गिक रोगी से अलग रहना चाहिए और स्वास्थ्य अच्छा रखना चाहिए। तभी ससर्ग टलने की अधिक सभावना है।

छठवां प्रकरण

कुष्ठ-जंतु

कुष्ठजतु अथवा हनसेन के यष्टिजतु २ से ८ माइक्रोन * लम्बाई और ०.५ से १ माइक्रोन मोटाई के होते हैं। इसके पेशीद्रव (प्रोटोप्लाजम) मे रग धारण करनेवाले कण होते हैं। ये कण कभी अनेक और वहुत छोटे होते हैं। कभी एक ही वडा कण होता है। वह बीच

* सूक्ष्मदर्शक यंत्र के काम में आनेवाला एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म माप। मीटर का दस लाखवा भाग अथवा इंच का २५००० वां भाग। V इसका निशान है।

चित्र १
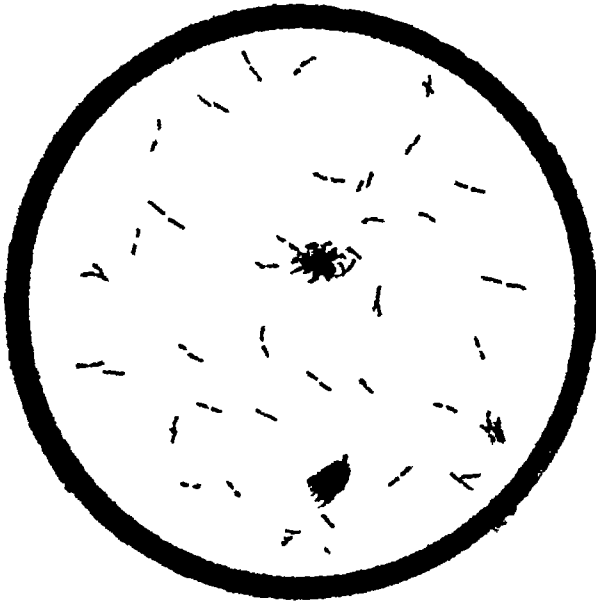
कुष्टजंतु (सूक्ष्मदर्शकातून)।

चित्र २
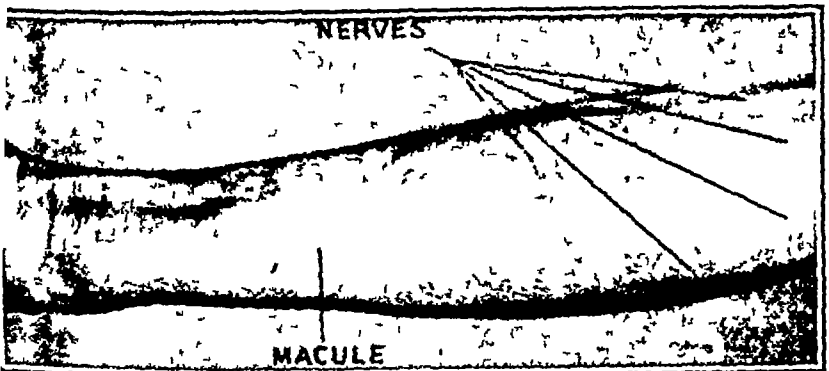
चट्टा व त्याशीं संबद्ध चट्ट मज्जातंतु।

चित्र ३

महारोगाची स्पर्शजन्यता, वडील भावानें ५ भावांस रोगी केलें।
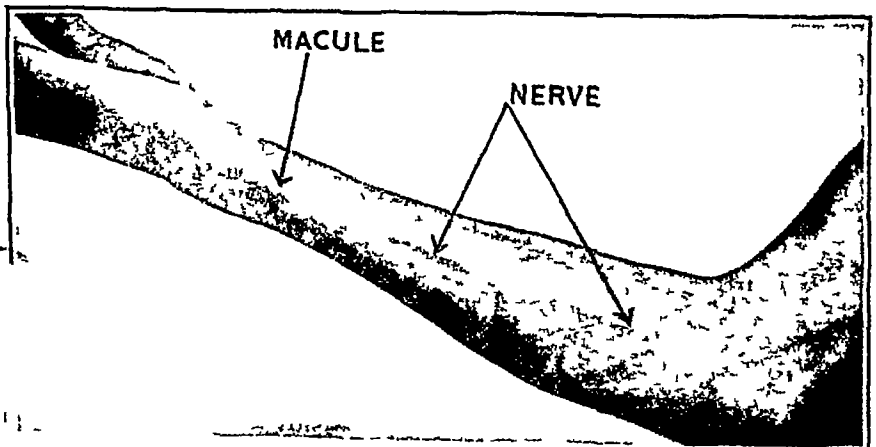
चित्र ४

में या सिरे पर होता है। कालकुष्ठ के रुग्णको मे अनेक जतु मिलते हैं। सौम्यकुष्ठ (न्यूरल लेप्रसी) में बहुत ही कम और वडी खोज के वाद मिलते हैं। कोढ के दोनो प्रकारो में भारी भिन्नता के कारण इस जतु के दो उपभेद होने के वारे में कुछ ने मत प्रकट किया है। पर वह ठीक नहीं है। कारण फिर ससर्ग न होकर सौम्य कुष्ठ ही कालकुष्ठ रूप धारण करता है। परिवर्तन जो होता है वह जतु में नही होता। जतु और पेशीजाल (टिश्यू) की पारस्परिक प्रतिक्रिया की समतुलनता में होता है। कालकुष्ठीय रुग्णक में कुष्ठजतु काफी पाये जाते है। कुष्ठविकृत सूजी हुई पेशी में जमा होकर रहने की ओर उनका विशेष झुकाव होता है। क्षयजतु और कुष्ठजतु को अलगाने में यह विशिष्ट लक्षण उपयोगी होता है। ये दोनो जतु दिखने में और रग-धारण-गुण (स्टेनिंग रिएक्शन) में समान होते है। सूक्ष्मदर्शक के एक क्षेत्र में (फील्ड) क्षय-जतुओ की अपेक्षा कुष्ठजतुओ की सख्या अधिक होती है। वे पुज-के-पुज एक जगह जमा रहते है। क्षयजंतु के मुकाबले में कुष्ठजतु कम टेढे—अधिक सरल दिखाई देते है। साधारणत क्षयजतु फुपफुस में पाये जाते है। कुष्ठजतु त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और मज्जातंतु (नर्व) में पाये जाते है। इन भेदो के कारण इन दोनो जतुओ को अलग-अलग पहचाना जाता है। असली निर्णायक कसौटी के लिए गिनीपिग (सफेद चूहे जैसे जीव) के शरीर में जतु को प्रत्यक्ष इजेक्ट करते—घुसाते है। क्षयजतु उसके शरीर में वढते है और रोग पैदा करते है। वैसे कुष्ठजतु नही वढते। झील नीलमन की रीति से रगने पर कुष्ठजतु क्षयजतु की अपेक्षा कुछ कम अम्लस्थिर (एसिड फास्ट) पाया जाता है।

कुष्ठजतु-सवर्धन (कल्चर) का प्रयोग अभी सशोधन-अवस्था में है। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियो के शरीर में कुष्ठ सचार करके

रोग का विकास करने की कोशिश में भी कामयावी नही हुई है।

कुछ कार्यकर्त्ताओ ने यह मत प्रकट किया है कि कुष्ठजतु और मूषक-कुष्ठजतु (वसिलस लेप्रा म्यूरिस) एक ही हैं। पर यह सही नही है। (कोढ सरीखा एक रोग चूहो को भी होता है। एक प्रकार की भैस में भी ऐसा ही रोग मिलता है। उन्हे मूषककुष्ठ और महिषकुष्ठ कहना चाहिए। परतु इन रोगों का मानव कुष्ठ से कोई ताल्लुक नही है।) चूहे के शरीर में मानव कुष्ठ के जतु प्रवेश कराने से रोग पैदा नही होता। पर मूषक-कुष्ठ जतु घुसाने से सौ में सौ चूहो को होता है। ये ये दोनो जतु एक नहीं है, तथापि कुछ वातो में समता है। आकार और रग-धारण-गुण दोनो में एकसा ही है। दोनो के ही वारे में व्यवस्थित जतु-सवर्धन अथवा वाअसर टीका (इनाक्यूलेशन) अभीतक तैयार नही होपाया है।

यह विचारने की वात है कि मनुष्य के क्षयरोग की जड निचली श्रेणी के जीवो के उसी प्रकार के रोग से है। पर मानव-कुष्ठ-जतु की जड कहामे आई ? या किसी ऐसे प्राणी से उसकी जड निकली थी जो आज खत्म होगया है ? यह खोज का विषय है।

सातवां प्रकरण

कुष्ठरोग की शुरुआत

कुष्ठ-जतु का स्वरूप और शरीर मे प्रवेश करने की उसकी रीति समझ लेने के वाद वह वहा अप्रकट स्थिति मे कितने समय तक रहता है, रोग का प्रथम उद्‌भव कैसे होता है, जतु शरीर मे किस-किस अवयव मे रुग्णक पैदा करता है, इन वातो का विचार करना आवश्यक होजाता है।

अप्रकट अवस्था का समय (लेटट पीरियड)

नसर्ग-प्रवेश होने के वाद से प्रत्यक्ष रोग-लक्षण प्रकट होनेतक मे वहुतना समय चला जाता है। पर उसकी अवधि निश्चित नही होती। इस समय को रोग-वीज-पोषण-काल (इन्क्युवेशन पीरियड) कहने की अपेक्षा अप्रकट अवस्था का काल कहना अधिक शास्त्रसम्मत होगा। छ हफ्ते के वच्चे के सारे शरीर पर लणक देखने में आये है। चार और सात महीने के वच्चे के शरीर पर भी चकत्ते पाये जाने के सवूत है। दूसरी ओर कुछ रोगियो में रोग-ससर्ग के वाद वीस साल नक कोई भी लक्षण सामने नही आये। एक रोगी के शरीर पर सिर्फ एक छोटा-सा चकत्ता वाईस नाल तक उतना-का-उतना वडा वना रहा। यह समय ससर्ग के प्रमाण और समर्ग लगे हुए की प्रतिकार-क्षमता पर निर्भर रहता है। वह कभी तो कुछ महीनो का, तो कभी कुछ वर्षों का होता है। आम तौर से तो तीन वर्षो के आसपास होता है।

प्रथम उद्भव (आनसेट)

साधारणत देखा जाता है कि कोढ की पहली शुरुआत विलकुल धीर गति से क्रम-क्रम से होती है। विलकुल पहले दिखाई देनेवाले लक्षण दो तरह के होते है। (१) त्वचा पर एक-दो छोटे-से चकत्ते दिखाई देते है। उनमें सवेदना (सेंसेशन) का परिवर्तन कभी होता है, कभी नही। (२) पीठ के हिस्से के मज्जाततुओ में खरावी पैदा होती है। हाथ-पाँव में अथवा चकत्तो पर चुनचुनाहट होती है, झुनझुनी उठती है या जडता अथवा शून्यता जान पडती है। ये लक्षण वहुधा स्थानवद्ध स्थान विशेप पर होते है। ऐसे स्थानो पर पहले का कोई घाव या चोट होने की वात भी साधारणत पाई जाती है।

तथापि कभी-कभी शीघ्र परिणामकारी आकस्मिक स्वरूप की शुरु-

आत होती है। तव सारे रुग्णक उमड आते हैं। इस परिस्थिति में वे सब थोडे ही समय में फूट जाते है। उनमे उपर्युक्त दोनो प्रकार के लक्षण अधिक मात्रा में पाये जाते है। कभी गाठे भी निकल आती हैं।

रुग्णकों का शरीर मे विभाग

कोढ सारे शरीर का रोग है, खासकर त्वचा, कुछ श्लेष्मल त्वचा और पृष्ठभाग के मज्जाततु (पेरिफीरल नर्व) में इसकी वजह से खरावी आती है। विकुपित अवस्था में करीव-करीव सभी अवयव (आर्गन) और पेशीजाल (टिश्यु) कुष्ठविकृत हुए रहते हैं।

इसमें उल्लेखनीय अपवाद मध्यवर्ती मज्जासस्था (सेंट्रल नर्व सिस्टम) होती है। वह शायद ही विकृत हुई मिलती है। मज्जा-रज्जू (स्पीनल कार्ड) की कडी में जो खरावी पैदा होती है वह सौम्यकुष्ठ के कारण होनेवाले पृष्ठीय मज्जाततु के दाह का (न्यूराइटिस) अप्रत्यक्ष परिणाम होता है।

कुष्ठ-ससर्ग के कारण स्नायुओ (मसल्) में प्रत्यक्ष विकृति नहीं होती है। सलग्न मज्जाततु के कारण उसमे अप्रत्यक्ष पोषणविषयक (ट्राफिक) खरावी होती हैं।

हृदय भी प्रत्यक्ष रूप से विकृत नही होता। कुष्ठ-ज्वर अथवा मिश्र ससर्ग के कारण फैलनेवाले जहर से उसमें विकलता पैदा होती हैं।

लघु रक्तवाहिनी-रक्तधमनिया (ब्लड वेसल) विशेषत कुष्ठ-विकृत भाग की सूक्ष्म शाखा वहुत विकृत हुई होती है।

विकुपित दशा में पहुचे हुए रोगी में थोडे प्रमाण में फुफ्फुस (लग्ज) में ससर्ग पहुचता है।

अन्नमार्ग (गस्ट्रो इटेस्टिनल ट्रैक्ट) और मूत्रमार्ग (यूरिनरी ट्रैक्ट) जहातक जाना गया है सुरक्षित दिखाई देते है। विषजन्य रक्तदोष

के कारण (टाग्जिमिया) उत्पन्न होनेवाली अप्रत्यक्ष विकलताभर होती है।

शवच्छेदन (पोस्टमार्टम) में यकृत (लीवर), प्लीहा—तिल्ली (स्प्लीन) हमेशा कुष्ठग्रस्त पाये जाते है। वढे हुए रोग मे उसके प्रकट चिन्हो में एक चिन्ह उसका आकार वढा हुआ भी पाया जाता है। विशेषत कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रारिएक्शन) मे यह वखूवी देखने में आता है। पर इस परिवर्तन का प्रकट रोग-लक्षण की दृष्टि से (क्लिनिकली) वहुत उपयोग नहीं होता। मिश्र ससर्ग में पोषणविषयक खरावी भी पैदा हुई पाई जाती है।

कालकुष्ठ में वीर्यपिंड या वृषण (टेस्टीज) थोडे-वहुत प्रमाण में विकृत होते है। वह विकार दोनो गोलियो के मध्यभाग में और साथ ही उनके अदरूनी हिस्से में भी होता है। अखीर-अखीर में तो यह अवयव श्वेततंतु (फायब्रस) का पेशीजाल ही वन जाता है।

कालकुष्ठ के सव रोगियो में और सौम्यकुष्ठ के कुछ रोगियो में रसग्रथि (लिंफ नोड्स) कुष्ठ-विकृत होती हैं। आकार में फर्क न पडकर भी ग्रथि की मोटाई वढ जाती है। इस ग्रथि की छीलन (सेक्शन) लेने से भीतरी गाभा और अस्थिमज्जारज्जु (मेड्युलरी कार्ड) पीली-सी दिखाई देती है। क्षय रोग में वह ऐसी नही पाई जाती। इससे कुष्ठ रोग की आसानी से परख होजाती है । पर वहुत वार दोनो रोग एक ही साथ होने की सभावना होती है। कोढ की जाच करने में इस फूली हुई रसग्रथि के छीलन को या सूई घुसाकर खीचे हुए द्रव्य की परीक्षा करना उपयोगी होता है। कुष्ठ-ससर्ग त्वचा के रसस्थान (लिंफ स्पेसेस) से रसवाहिनियो द्वारा ग्रथि तक ऊपर पसरता है। यह ग्रथि छनने अथवा फिल्टर का काम करती है। उसमे रोग फैलना वद होजाता है, अथवा रुकावट तो हो ही जाती है।

आठवां प्रकरण

त्वचा के रुग्णकों का स्वरूप-लक्षण

पहले कह चुके है कि कोढ सारे शरीर मे होनेवाला रोग है। उससे प्रत्यक्ष—बाहरी—अथवा अप्रत्यक्ष—भीतरी—सभी अवयवो और पेशीजाल मे खराबी आती है। फिर भी उसके ससर्ग मे प्रकट-लक्षण-दृष्टि से (क्लिनिकली) अथवा सूक्ष्म शरीरशास्त्र-दृष्टि से (हिस्टालाजिकली) परीक्षा करने योग्य परिवर्तन खासकर त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और पृष्ठीय मज्जाततु में उत्पन्न होता है। कोढ की सौम्य अथवा मज्जा-ततु सबधी कुष्ठ और कालकुष्ठ ये दो किस्मे है। इनमे खास तौर से मज्जाततु और त्वचा मे क्रम से आगे-पीछे विकार पैदा होता है। तथापि बहुतेरे रुग्णको मे दोनो मे ही ससर्ग पहुचा हुआ होता है। कोढ के हमेशा मिलनेवाले नमूनेदार (टिपिकल) उदाहरणो में त्वचा और मज्जाततु एकसाथ ही विकृत हुए पाये जाते है। अत' त्वचा और मज्जाततु एक गुट मानकर अभ्यास करने में आसानी रहेगी । पहले त्वचा के रुग्णको के स्वरूप-लक्षणो का विचार किया जाता है।

त्वचा की रचना

त्वचा में कोढ का ससर्ग फैलने की रीति को स्पष्ट बतलाने के लिए त्वचा की रचना के कुछ अगो का वर्णन पहले करना उपयोगी होगा।

त्वचा शरीर पर का बाहरी आवरण—परदा है। बाहरी त्वचा (एपिडर्मिस) और भीतरी त्वचा (डर्मिस) उसके ये दो हिस्से है। इनमे बाह्य त्वचा बाहरी परदा होने से मोटी और कडी होती है, वह पेशी की अनेक तहो से बनी हुई होती है। उनमे से ऊपर की तह की पेशी चपटे और सीग सरीखे कडे पदार्थ की बनी हुई होती है। वह छीजकर

धीरे-धीरे गल जाती है। उसकी जगह नीचे की तह की नई पेशियो से पूरी होती है। ऊपर की तह रवेदार और अधिक साफ होती है। नीचे की तह को मल्पीगियन * तह कहते है। बाहरी त्वचा में मज्जातंतु अथवा रक्तवाहिनिया (ब्लड वेसल्स) नही होतीं। उसकी पेशियो का पोषण निचले हिस्से की रक्तवाहिनियो मे झरनेवाले रस (लिंफ) से होता है। इस त्वचा से भीतरी भाग की रक्षा होती है। इसका भीतरी त्वचा की ओर का हिस्सा सर्प की आकृति में मुडा होता है और उसके बिलकुल नीचे की तह में एक तरह का काले-से रग का द्रव्य होता है। वह झरनेवाले रस के कारण वहाँसे वहा जाया जाता है। उसकी कमी-बेशी पर आदमी का गोरा या कालापन निर्भर रहता है। बाह्य त्वचा के पृष्ठभाग की चपटी पेशी पर नीचे की भीतरी त्वचा में की रोग-विकृति का खासा परिणाम होसकता है।

भीतरी त्वचा अथवा असली त्वचा बाहरी त्वचा की भीतरी ओर होती है। उसमें सफेद और लचीला पेशीजाल, केशवाहिनी (ब्लड कपिलरीज), रसवाहिनी (लिंफ्याटिक्स) मज्जातंतु, घर्मपिंड, स्नेहपिंड (सेवशियस ग्लैंड), रोओं की जडें और कुछ स्नायुतंतु इत्यादि होते है। बाहरी त्वचा के नीचे के सर्पमोड के हिस्से की तरह ही भीतरी त्वचा का भी ऊपरी भाग सर्पमोड आकार का ही होता है। इसमें के उठे हुए हिस्से में केशवाहिनिया और स्पर्शज्ञान करानेवाले मज्जातंतुओं के सिरे होते है। कुछ हिस्से में इस मज्जातंतु के सिरे पर फुलावट जान पडती है। उनके द्वारा स्पर्शज्ञान होता है, इससे उसे स्पर्शगोलक (टच कार्प्युस्कल) कहते है। त्वचा के निचले हिस्से में चरबी की तह

* इटाली में मार्सेलो मल्पीगी नाम के शरीरशास्त्रवेत्ता ने इसकी खोज की थी, इसलिए उस तरह का यह नाम मिल गया है।

होती है। वह शरीर की गर्मी को बाहर नही जाने देती।

घर्मपिंड (स्वेट ग्लैंड) त्वचा के निचले हिस्से में होते है। प्रत्येक पिंड सूक्ष्म रक्तवाहिनियो से घिरा हुआ एक प्रकार का शिराओ का मल ही होता है। उससे निकलनेवाली घर्मनलिका (स्वेट डक्ट) ऊपर जाकर त्वचा के पृष्ठभाग पर खुलती है। चमडी के पृष्ठभाग पर हमे जो अनेक छिद्र दिखलाई देते है वे इस घर्मनलिका के मुह है। भ.तरी त्वचा मे ऊपर को जाते यह घर्मनलिका सीधी होती है। पर वाहरी त्वचा मे से ऊपर को जाते वह सर्पमोड जैसी होती है।

रोये सीग सरीखे कडे पदार्थ से वने हुए है। वाहरी त्वचा से उनकी उत्पत्ति होती है। वाहरी त्वचा की एक खाच (फलिकल) भीतरी त्वचा तक गई हुई है। उसके नीचे जो रोमो का वूद सरीखा मोटा हिस्सा होता है उसे रोममूल कहते है। उस रोममूल के नीचे के हिस्से से सूक्ष्म रक्तवाहिनिया और मज्जातंतु जुडे हुए होते है। जड से रोमो तक एक सूक्ष्म स्नायु का सयोग भी रहता है। ठढक या भय की वजह से उसके सिकुडने पर रोयें खडे होजाते है। जड से निकलकर रोओ का जो काला भाग चमडी के वाहर निकलता है, उसे गोड कहते है।

स्नेहपिंड (सेवशियस ग्लैंड)—यह सूक्ष्म ग्रथी रोओ के वगल मे होती है। उसमें से तेल सरीखा सीवम नामक एक पदार्थ निकलकर त्वचा पर फैलता है। उससे रोए और त्वचा चिकने और मुलायम रहते है।

भीतरी त्वचा मे शुद्ध और अशुद्ध रक्तवाहिनियो और मज्जातंतुओ से वने हुए खास दो जाल (प्लेक्सस्) फैले हुए होते है। इसमें एक भीतरी त्वचा और उसके नीचे के पेशीजाल मे होता है। इसे त्वचा के नीचे का जाल कहते है। दूसरा आतरिक त्वचा और वाह्य त्वचा

चित्र ५

पायाचे वेधक व्रण।

चित्र ६

घट्ट मज्जातंतु व अमुख-व्रण।

चित्र ७

५ व्या व ७ व्या शीर्षीय मज्जातंतूचा लकवा,
चलनवलन क्रियेंत बिघाड ।

के बीच के सर्पाकृति भाग के नीचे होता है। इसे त्वचा के बीच का या ऊर्ध्व (उपरला) जाल कहते हैं। भीतरी त्वचा के नीचे की शिराओ और मज्जातंतु में से निकली हुई शाखा से नीचे का जाल बना हुआ होता है। इससे सूक्ष्म उपशाखा निकलकर रोममूल घर्मपिंड और स्नेहपिंड को घेरकर त्वचा में के ऊपर के जाल तक पहुची हुई हैं। इस ऊर्ध्वजाल से फिर अधिक सूक्ष्म उपशाखा निकलकर सर्पाकृति भाग तक गई हुई है।

त्वचा और मज्जातंतु मे के ससर्ग का प्रसार

जब कुष्ठससर्ग त्वचा में पहुचता है तब या तो रक्त मे के रोग-जतुओ को खा डालनेवाले श्वेतभक्षक गोलको (फ्यागोसिट) द्वारा नष्ट होजाता है अथवा फिर वह शिराओ और मज्जातंतु के जाल के मार्ग से पसरने लगता है। कुष्ठज्वर अथवा तात्कालिक जोरदार पेशी की प्रतिक्रिया शुरू होने की वजह से रक्तपेशी रुग्णको पर हमला करके भक्षक गोलको के द्वारा कुष्ठजतुओ का नाश करती है। हमेशा की साधारण परिस्थिति मे त्वचा और मज्जातंतु में की कुछ पेशिया कुष्ठ-जतुओ का प्रतिकार करती है । कुष्ठजतुओ का नाश करने में भाग बटानेवाली इस पेशी का 'माइक्रोफेज' नाम रक्खा गया है। वह वाहिनियो से सटे हुए सामने के पेशीजाल में होती है इसलिए उसे परिवाहिनी पेशी कहते है।

त्वचा में प्रवेश किये हुए कुष्ठजतुओ की वृद्धि पेशी के अदर और एक पेशी से दूसरी के बीच के रससम्थान (लिफ स्पेसेस) में होती है । ससर्ग की वृद्धि का परिमाण और उसका शरीर में प्रसार पेशी की प्रतिक्रिया के परिमाण पर निर्भर रहता है। और यह पेशी की प्रतिक्रिया रोगी की प्रतिकारक्षमता पर अवलबित रहती है। प्रतिकार-

शक्ति के अत्यत क्षीण रहने पर जाल के मार्ग से मसर्ग तीव्रता से फैलता रहता है। वहुत वार ऊपर के विलकुल पृष्ठभाग की परत मे ससर्ग मर्यादित रहता है। तथापि सावारणत कम-ज्यादा मीयाद के बाद ससर्ग रोममूल और घर्मपिड के सामने की वाहिनियो और मज्जा-ततुओ के द्वारा फैलकर नीचे के जाल में प्रवेश करता है। वहा उसके खूव वढने की मभावना रहती है। वहासे फिर उमका मसर्ग दूसरी शाखाओ के द्वारा ऊपर के जाल में फिर घुस मकता है अथवा उसी अवधि में नीचे के जाल के मवेदनावाहक मज्जातंतु के द्वारा अदर फैल सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष त्वचा से पृष्ठीय मज्जाततु के विकृत होने की सभावना रहती है।

कुष्ठजतुओं पर त्वचा की पेशी की प्रतिक्रिया

भिन्न-भिन्न जालो और उनकी शाखा-उपशाखाओ मे से ससर्ग वढते-वढते वाहिनियो के सामने की पेशी कुष्ठजतुओ के साथ भिडने लगती है—प्रतिक्रिया करने लगती है। यह प्रतिक्रिया तीन तरह की होती है। (१) स्वत विभक्त होकर पेशी की सख्या वढाना, (२) माइक्रोफेज पेशी का जतु को निगल लेना, वा (३) अनुकूल परिस्थिति मे जतुओ का नष्ट होना। प्रतिक्रिया का तीव्र या मन्द होना विशिष्ट स्थान मे प्रत्यक्ष मौजूद कुष्ठजतुओ की सख्या और पेशी की प्रतिकार-क्षमता या इन दोनो के परिमाण पर निर्भर है। इसके कारण जतु-प्रविष्ट जाल और वाहिनियो के चारो ओर माइक्रोफेज पेशी के कारण उत्पन्न होनेवाला अन्त सेक (इफिल्ट्रेशन) इकट्ठा होता है। यह अन्त सेक कमोवेश ढीला या गाढा होता है। यह वहाके जतुओ की सख्या और पेशी की प्रतिक्रिया-शक्ति पर अवलबित होता है। इस पेशी की वाढ और उत्पन्न होनेवाले अत.सेक के कारण रुग्णक पैदा होते है।

जान पडता है माइक्रोफेज की कुष्ठजतुओ के साथ होनेवाली प्रतिक्रिया कुछ अशो में सान्निध्य पर अवलम्बित है। इससे मध्यम प्रतिकार के उदाहरणो में मज्जाततुओ मे के जतुओ के वजाय त्वचा के जतुओ का नाश होता है। मज्जाततुओ में जव जतु रहते है तव पेशी-की भक्षण-मारण क्रिया से मानो मज्जा-रेखा के कारण उनका सरक्षण हो-जाता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे—कालकुष्ठ प्रकार मे—त्वचा और मज्जाततु इन दोनों मे भरपूर ससर्ग पसरा रहता है। त्वचा में पेशी का अत सेक भरपूर रहता है। सिर्फ मज्जाततु मे विलकुल कम रहता है।

सौम्य कुष्ठ के चकत्तो मे त्वचा मे कणसघ गाढा वना हुआ रहता है। उस दशा में एकाध जतु मिले तो मिले, नही विलकुल नही मिलते। पर उससे जुडे हुए मज्जाततुओ मे कणसघमय अत सेक तो होता है, पर तुलनात्मक दृष्टि से कुष्ठजतु वडी तादाद मे पाये जा-सकते हैं और वे भी वाहिनी मे दूर मधि-भाग में होते है। इसलिए त्वचा की अपेक्षा मज्जाततुओ में के कुष्ठजतुओ को नष्ट करने मे अधिक जोरदार प्रतिक्रिया-शक्ति की जरूरत होती है। मध्यम प्रतिकार के उदाहरण मे त्वचा के जतुओ का नाश हुआ रहता है। परंतु पृष्ठीय मे मज्जाततुओ मे वे सिर्फ दवे-से रहते हैं। यदि किन्ही कारणो से प्रतिकार-शक्ति किसी समय कम होगई तो वे मज्जाततुओ मे से त्वचा मे फिर प्रवेश करने लगते है, यह सभव है। प्राय यह देखा गया है कि उस समय जो चकत्ते अच्छे-से होगये थे उनमें फिर रोग-वृद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे।

प्रतिकार-शक्ति मे चढ़ाव-उतार

प्रतिकार-शक्ति की कमी-वेशी के अनुसार रुग्णको के प्रकट और सूक्ष्म शरीर-स्वरूप मे अतर होता है, यह ऊपर कह आये है। प्रतिकार-

शक्ति में का चढाव-उतार भी रुग्णको के स्वरूप निश्चित करने का एक महत्त्व का साधन है। प्रतिकारशक्ति के इस चढाव-उतार के कारणो का आगे सत्रहवें प्रकरण मे विचार किया जायगा।

यदि प्रतिकारशक्ति किसी वक्त कम हुई तो जतु बढने लगते है, त्वचा और मज्जाततु दोनों में पसरते है। वक्त से अगर प्रतिकार-शक्ति फिर पहले की भाति होगई तो एकत्र कुष्ठजतुओ मे पेशी का तीव्र प्रतिकार शुरू होजाता है। इसे 'आरोग्य-स्थापन' (रिकवरी) की प्रतिक्रिया कहा जासकता है। सौम्य कुष्ठ के रोगी जब सहचारी रोग में से सुधार की ओर अग्रसर होने लगते है अथवा क्षीणता लानेवाले कारण खत्म होजाते है तो ऐसा अक्सर होता है। उस समय त्वचा के और मज्जाततुओ के बाहरी लक्षण बिलकुल साफ दिखाई देते है।

यदि क्षीणता के कारण बहुत तीव्र या देर तक टिकाऊ हुए, तो प्रतिकारशक्ति हमेशा के लिए क्षीण होने का भय रहता है। फिर आरोग्य सुधरने पर रोग को रोकनेवाली पेशी की प्रतिक्रिया पूरी जोरदार न होने की सम्भावना रहती है। अथवा प्रतिक्रिया के कारण रोग की सकरता अथवा घालमेल होजाती है और फिर प्रतिकार-शक्ति गिर जाती है।

कभी-कभी त्वचा की प्रतिकार-शक्ति इस दर्जे की होती है कि बाहरी लक्षणो से समझ में आनेयोग्य त्वचा के रुग्णको का होना टल जाता है। परतु सवेदनावाहक मज्जाततुओ मे से जतुओ का ऊपर फैलकर आरत्निक (अल्नर) सरीखे मिश्र मज्जाततुओ में जाना नही रुकता। इस प्रकार मुख्य मज्जाततु कुष्ठविकृत होजाने से गाढ़ापन या कोमलता अर्थात् स्पर्शतासहत्व (टॅडरनेस) आता है। उसकी वजह से पैदा होनेवाला पोषण, हलचल और सवेदना सबधी (ट्राफिक,

मोटर, सेसरी) लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे शुद्ध अथवा केवल मज्जाततु-कुष्ठ के उदाहरण कम ही होते हैं। जब मज्जाततु विकृत होते है, तब साधारणत उनसे व्याप्त भाग मे त्वचा के रुग्णक होते है। अथवा पहले रुग्णक होकर बदली हुई शक्ल मे चकत्ते वगैरा आखिरी लक्षण रहते है।

स्वयमुक्तता

यह बात खूब ध्यान मे रखनी चाहिए कि क्षय की भाति कोढ भी अत्यल्प (स्लाइट) रोग होसकता है। ससर्ग पहुच जाने पर भी वह निष्फल अथवा अनुत्पादक भी रह सकता है। यत्किंचित रुग्णक हुए भी तो बिना इलाज के अपनेआप ही अच्छे होसकते है। इसके दृढ प्रमाण है कि रोगग्रस्त प्रदेशो मे बहुतेरे उदाहरणो मे स्वयमुक्ता होती है। इस प्रकार अपनेआप दुरुस्ती होना यह रोगी के सर्वसामान्य आरोग्य मे वक्त से अच्छा सुधार होने पर निर्भर रहता है।

कोढ की अतिप्रगत अवस्था में भी स्वयमुक्तता बहुत बार आ जाती है। कुपित अवस्था मे पहुचे हुए रोगियो मे फिर ससर्ग क्रमश कम होता जाता है। रोगी फिर लौटकर सौम्य कुष्ठ मे पहुचता है। पूर्वरोग के शेष चिन्हो के रूप में चेहरे और हाथ-पैरो पर कुरूपता और व्यगता बाकी रहती है। ऐसो को रोग जलकर मुक्त हुए (बर्न्ट आउट) रोगी कहते है। ऐसे उदाहरणो में जतु क्यो और कैसे नष्ट होते है, इसका अभीतक ठीक फैसला नही होपाया है।

नवां प्रकरण

मज्जातंतु के रुग्णकों का स्वरूप-लक्षण

मज्जातंतु मे संसर्ग कैसे फैलता है, इसकी स्पष्ट कल्पना के लिए पहले मज्जातंतु की रचना और उसके कार्य की कुछ जानकारी होने की जरूरत है।

मज्जातंतु की रचना और कार्य

शरीर मे अनेक इंद्रिय-संस्थाए है। वे अपना-अपना काम करती रहती है। परंतु इन सबके कामो को संकलित और व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए उनपर अधिकार रखनेवाली एक इंद्रिय-संस्था है, जिसे मज्जा-संस्था (नर्वस सिस्टम) कहते है।

जिस प्रकार हरेक इंद्रिया असंख्य पेशियो से बनी हुई है वैसे ही सारी मज्जा-संस्था मज्जाकणो (न्यूरान) से बनी हुई है। प्रत्येक मज्जाकण के मज्जापेशी और मज्जारेखा (फायबर) नाम के दो हिस्से होते है। मज्जापेशी पेशीद्रव की अनियमित आकार की एक सूक्ष्म गोली ही होती है। उसके मध्य मे केंद्र-भाग होता है और बगल में अनेक सूक्ष्मकण होते है। मज्जापेशी मे अनेक शिखातंतु (डेंड्रा्स) निकलते है। इसके कारण पास-पास के मज्जाकण एक-दूसरे मे जोडे जाते है और एक की बात या संदेश दूसरे को सहज मे समझ मे आता है। इसमे एक ही शाखा लम्बी होती है। उसे मुख्यतंतु (अक्सन) कहते है। मज्जापेशी से बाहर निकलने पर इसपर एक तरह का परदा पड जाता है। इस आवरण-सहित को मुख्य तंतु की मज्जा-रेखा कहते है। शरीर मे जो अनेक मज्जातंतु हमे दिखाई देते है उनमें से प्रत्येक मज्जातंतु उपर्युक्त वर्णन के अनुसार सूक्ष्म

मज्जा-रेखा का एक सयुक्त पदार्थ ही है। ये सब ततु मज्जा-पेशी से ही निकले हुए होते है। सयोगी पेशी-जाल से वे एक-दूसरे से गुथे हुए होते है।

विजली डाइनमो में तैयार होती है। तार सिर्फ उसके वाहक है। वैसे ही मज्जापेशी मे प्रेरणा पैदा होती है और मज्जाततु उसके वाहकमात्र है। प्रेरणा उत्पन्न करना, दूसरी ओर से आई हुई प्रेरणा को स्वीकारना और स्वीकार की हुई प्रेरणा को दूसरी ओर भेजना ये तीन काम मज्जापेशी करती है। प्रेरणा मज्जाततु मे अपनेआप पैदा नही होसकती। जो मज्जाततु शरीर के भिन्न-भिन्न भाग की प्रेरणा को मस्तिष्क की ओर अथवा मज्जारज्जू (स्पायनल कार्ड) के पास पहुचाकर वहा मवेदना उत्पन्न करते है, उन्हे मवेदनावाहक (अफरट सेंसरी) मज्जाततु कहते है। मस्तिष्क या मज्जारज्जू की ओर से आनेवाला सदेश या आज्ञा शरीर के भिन्न-भिन्न भागो के पास जिन मज्जाततुओ के द्वारा पहुचाई जाती है उन्हे 'आज्ञावाहक' (इफरट) मज्जाततु कहते है। इन दूसरे मज्जाततुओ के तीन प्रकार है। (१) स्नायु की ओर जानेवाले मज्जाततु। इनकी सहायता से स्नायु का आकुचन होता है। इन्हे 'गतिवाहक' (मोटर) मज्जाततु कहते है। (२) भिन्न-भिन्न ग्रथियो की ओर जानेवाले मज्जाततु। इनकी सहायता से ग्रथियो मे स्राव उत्पन्न होता है। इसे 'रसविमोचक' (सिक्रेटरी) मज्जाततु कहते है। (३) रक्त के वहाव का नियत्रण करनेवाले मज्जाततु। इनके सयोग से रक्तवाहिनी की दीवारो के स्नायुओ का सकोचन और प्रसारण होता है। किसी हिस्से को रक्त कम या ज्यादा पहुचाने की जरूरत हुई तो वह काम इनके द्वारा होता है। इन्हे 'धमनीचालक' (वाइसो मोटर) मज्जाततु कहते है। वहुत जगह सवेदनावाहक और आज्ञावाहक दोनो प्रकार के ततु एक ही

ससर्ग के त्वचा के नीचे के जाल मे रोओ की जड के चारो ओर त्वचा के सर्पाकृति भाग मे और उसकी नीचे की तह मे प्रवेश करने पर नया सूक्ष्म कणसघ (ग्रन्युलोमा) तैयार होता है, और बाहर से दिखाई देने लायक फुसियो का समूह का समूह, पहले के चकत्ते की सीमा के बाहर को उभरा हुआ दिखाई देता है मानो यह रोग के लिए नया प्रदेश तलाशनेवाले चर हो। इस कारण उनका 'पुरोगामीपीठिका' (पायनीयर पप्युल्स) नाम पड गया है। त्वचा के नीचे के मज्जाततुओ मे कुष्ठजतुओ का जो एक प्रकार का जमाव रहता है, उसमे से फिर त्वचा मे ससर्ग जा सकता है। उसकी वजह से शुरू के चकत्ते मे दोबारा ससर्ग पहुचता है, अथवा पडोस की नई त्वचा कुष्ठ-विकृत होती है। रोगी की प्रतिकार-शक्ति के बीच की बीमारी के कारण अथवा तात्कालिक अशक्ति के कारण क्षीण होने पर अक्सर ऐसा होता है।

सूक्ष्मग्रथिल (ट्यूबरक्युलाइड) प्रकार के चकत्तो का छीलन (सेक्शन) अथवा विलेप (स्मीअर) लेकर जाचने पर जतु नही मिलेगे। मिले भी तो कभी एकाव मिल जा सकते है। तथापि उस चकत्ते मे कितने ही महीने अथवा साल तक जागृति अथवा क्रियाशीलता (ऐक्टिविटी) के लक्षण मिलते है। उसका प्रकार या आकार करीब-करीब उतना ही रहता है। ऐसे चकत्तो के हठीलेपने की ठीक उपपत्ति उपर्युक्त स्पष्टीकरण से होती है। जलती बत्ती जैसे धीरे-धीरे आगे सरकाते जाने से एकसा जलती रहती है, वैसे ही पूरक मज्जाततुओ के सग्रह मे से निरतर अथवा बीच-बीच मे दुबारा ससर्ग होते रहने से ये चकत्ते निरतर क्रियाशील रहते है। ऐसे उदाहरण मे कुष्ठजतु मज्जाततुओ मे से ज्यो-ज्यो त्वचा मे पहुचते जाते है त्यो-त्यो नष्ट होते जाते है। इस वजह से वहा मद क्षोभयुक्त प्रतिक्रिया जारी रहती है।

ही होता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में उस हिसाब से नही होता।

यहा एक प्रश्न यह पूछा जायगा कि ऐसे प्रतिकारक्षम उदाहरण मे जतु मुख्य स्तभ तक मज्जाततुओ में मे ऊपर जाते ही कैसे है? पृष्ठभाग के पास के मज्जाततुओं मे रहते हुए पेशी की निगलने और मारने की क्रिया से उनकी रक्षा कैसे हो जाती है? यह नहीं है कि प्रतिकार-शक्ति हमेशा एक-सी ही रहती हो। अलग-अलग व्यक्तियो में वह भिन्न-भिन्न होती है, उसी प्रकार एक ही व्यक्ति मे भी परिस्थिति-भेद से कम-ज्यादा होती रहती है। प्रतिकारशक्ति जहा क्षीण हुई कि जतु फैलने लगते है, और जोरदार हुई कि पेशी की प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है। प्रतिकार-शक्ति के गिरने पर जतुओ को दूर तक फैलने का मौका मिलता है।

मज्जाततुओ में से ऊपर जाते हुए घाव या रुकावट की जगह पर जमा होने की जतुओ की प्रवृत्ति रहती है। जहा शाखाए मिलती है अथवा मज्जाततु स्नायु के, श्वेततंतु पेशीजाल के, अथवा हड्डी के वक्र भाग की ओर झुकते है, अथवा सकडे छिद्रो मे से जाते है वहा रुकावट की अधिक सभावना रहती है। पृष्ठीय मज्जाततु जब हड्डी से सटे रहते है तब उनके रुग्ण होने का ज्यादा खटका रहता है। जब क्षीण प्रतिकार-शक्ति अच्छी तरह सुधर जाती है तब ऐसे जतु जहा एकत्रित रहते है वही मज्जाततु विशेष मस्त हो जाते है। कारण फुटकर एकाध जतुओ की अपेक्षा जतुओ के समूह के कारण पेशी की प्रतिक्रिया ज्यादा जोर मे शुरू होती है। इसी वजह से केहुनी के पास मुडते हुए आरत्निक (अल्नर), घुटने की गुल्फास्थि (फिब्यूला) के पास से मुडते हुए पेरोनियल और कान के पास के स्नायु की तरफ से मुडते हुए बडा बाह्यकर्णीय (ग्रेट आरिक्यूलर) मज्जाततु यह बहुत

नष्ट हो जाता है । मज्जाततुओ के रुग्णको में यही तीन विलकुल हमेशा होते है ।

मज्जाततुओं के रुग्णकों का स्वरूप

त्वचा में और मज्जाततुओ में कुष्ठिका (लेप्रोमा) की शक्ल विलकुल एक-सा होती है । क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में विशेषता यह होती है कि कुष्ठ-पेशी (लेप्रा सेल) पाई जाती है । यह वीच में फूली हुई तथा पोली होती है और फेन सरीखी दिखाई देती है । इसलिए कुछ लोग उसे फेन-पेशी (फोमी सेल) भी कहते है । उसके भीतर निगले हुए कुष्ठ-जतु होते है । विलकुल किनारे की ओर सूक्ष्म गोल पेशी (राउड सेल) होती है । अच्छे प्रतिकारक्षम उदाहरण में कुष्ठ पेशी के वजाय 'उपलेपक पेशी' (एपिथेलाइड् सेल) पाई जाती है । जतु विलकुल कम होते हैं । त्वचा के रुग्णको में 'दीर्घकाय' (ज्याट्) पेशिया प्राय भरपूर होती है ।

त्वचा की अपेक्षा मज्जाततुओ मे पनीर सरीखा चिकटा पदार्थ वनाने की क्रिया अर्थात् पनीरीभवन (केसीएशन) ज्यादा होता है । वहुत वार इस क्रिया के वढ जाने पर अमुखव्रण (अव्सेस) भी उत्पन्न होजाते है । मज्जाततुओ के वेठन अथवा खोल (एपिन्यूरियम) प्राय सख्त होगई होती है । कई वार तो वह वहुत ही सख्त होती है । जतुओ पर जो पेशीय प्रतिक्रिया होती है उसकी वजह से ऐसा होता है । उसके कारण चारो ओर के पेशीजालो में ससर्ग के फैलने में रुकावट पडती है । प्रतिकारक्षम उदाहरणो में कुष्ठजतु मज्जाततुओ में वद हुए से रहते है । उनके वाहर आने की शक्यता मज्जाततु के आवरण अथवा त्वचा में होती है। पर वह वद-सी रहती है । मज्जाततुओ में जतु टिके रह सकते है और वढ भी सकते है । इतना ही नही, पूर्व कथनानुसार उनके जीने और वढने के लिए मज्जाततु ही अधिक अनुकूल स्थान है ।

मज्जाततुओं मे का अमुखव्रण

कुष्ठ-विकृत मज्जाततुओ मे पनीर सरीखा चिकटा पदार्थ वनने के वाद कुपित उदाहरणो मे अमुखव्रण भी वन जाते है। क्षय रोग मे रस-ग्रथि मे ऐसी ही जो क्रिया होती है उससे इनका वहुत साम्य है। ऊपर फैलते हुए कुष्ठजतु रुकावट होने की वजह से जहा इकट्ठे होते है उस जगह इस क्रिया के होने की वहुत सभावना रहती है। कभी सिर्फ पनीरीभवन होता है, कभी यह चिकटा पदार्थ तो वनता ही है पर वीच मे द्रवरूप होता है। कभी श्वेततंतुमय वेठन मे केवल द्रवरूप पदार्थ ही रहता है। यह अमुखव्रण मज्जातंतु के ठीक वीच मे रहता है,[1] और मज्जातंतु वेलन जैसा दिखाई पडता है। कभी यह हिस्सा किनारे की ओर सरक कर मज्जातंतु के एक हिस्से मे थैली की तरह जुडा रहता है। भीतरी मवादी हिस्से का मज्जारेखा पर जितना अधिक भार रहता है उतने ही मज्जाततु के लक्षण सबद्ध भाग मे अधिक होते है। वहुधा ये फोडे फूटते हैं और भीतरी द्रव्य निचुड जाता है। पर साधारण नियमानुसार तो वहुतकाल तक वह वेठन मे वन्द रहता है। भीतरी पीपवाले भाग के भार और उससे होनेवाले लक्षणो के प्रमाण मे उसके निचुड जाने पर रोगी को आराम जान पडता है।

यह अमुखव्रण शीघ्रपरिणामी अथवा विलवी-जीर्ण रूप का होता है। एक भी होता है और अनेक भी, कभी इसकी एक पाती-की-पाती ही होती है। सूक्ष्म शाखा से लेकर आरत्निक सरीखे वडे, मिश्र, सव प्रकार के मज्जाततुओ में वह होता है। आरत्निक, पृष्ठभाग के पास के प्रकोष्ठीय, वाह्यकर्णीय अथवा सूरल मज्जाततुओ मे वह वहुतायत से पाया जाता है। अमुखव्रण की परीक्षा मे कुष्ठजतु कतई नही पाये जाते। मवाद

वाले हिस्से में एकाव या गुच्छा-का-गुच्छा मिलने की सभावना अधिक रहती है। वेठन में अथवा पास की मज्जारेखा में उस हिसाव से कम मिलने की वात रहती है। ऐसे मौको पर मवादवाले हिस्से में वद हो-जाने के कारण निगलने और मारने की क्षमतावाली पेशी (माइक्रोफेज) से उनकी रक्षा होती होगी।

मज्जातंतु का आकुचन

कुष्ठजतुओं पर पेशी की प्रतिक्रिया होते हुए मज्जाततुओं के वेठन का खूब सख्त होना सभव है। इसकी वजह से वह मजबूत और न झुकने वाला वन जाता है। ऐसे वेठन में जब तीव्र दाहजन्य क्रिया शुरू होती है और उसके कारण रक्त जमकर (कजेश्चन) सूजन आती है तव मज्जारेखा पर खूव भार पडता है। उसकी चालू क्रिया में रुकावट पडती है। भार दीर्घकालीन और वहुत अधिक हुआ तो वह नष्ट भी होजाता है। कठिन रध्र में जाने के स्थान पर मज्जाततुओं का आकुचन सो अधिक दुःसह होने की सभावना रहती है। कोने के हिस्से की ओर झुकते हुए श्वेततनु (फायव्रस) पेशीजाल से आरत्निक (अल्नर) हड्डी से ढका जाता है। पेरोनियल का भी गुल्फास्थि के पास से जाते हुए यही हाल होता है। मज्जाततुओं के एक दम सूज जाने पर श्वेतततुओं के आकुचित हुए वधन अगर वक्त से काट न दिये गये तो हिलना, डुलना, पोषण और सवेदना में हमेशा के लिए विकृति पैदा हो जाती है या व्यग्यता आजाती है।

इसी प्रकार चेहरे के मज्जाततुओं के सूजने पर छिद्र में से जाते हुए ढके जाने की सभावना रहती है। उस समय चेहरे के एक ओर पूरा लकवा—पक्षघात (परिलिमिस) हो जाता है। सौम्यकुष्ठ के प्रतिकार-क्षम उदाहरण में जव चेहरे पर विस्तृत रुग्णक रहते हैं तव वहा आधा

लकवा (पेरीसिस) होना वरावर होनेवाली चीज है। उसकी वजह से चेहरा पुतले की तरह भावशून्य (मास्क लाइक अपियरेंस) होजाता है। इस प्रकार के रोग का वह एक विशेष लक्षण ही है। चेहरे की त्वचा में शून्यता आने की वजह से उसके नीचे के भाव व्यक्त करनेवाले स्नायु क्रिया करने मे अशत असमर्थ हो जाते है। आखो की पपनिया और मुह खोलने वन्द करनेवाले स्नायुओ का भी यही हाल हो जाता है। प्रगत रोगी वहुत वार मजवूरन होठ नही वन्द कर पाते और वरावर लार गिरती रहती है। चेहरे के मज्जाततुओ मे रुग्णक होने पर ऐसा होता दिखाई नही देता। ऊपर की स्पर्शशून्यता के कारण नीचे के स्नायुओ की कायम की आरोग्यस्थिति न रह जाने पर यह सभव है। उसी प्रकार ऊर्ध्वाक्षिकोपीय (सुप्रा आर्विटल) मज्जाततु हड्डी के छेद मे से अक्षि-कोष मे जाते हुए जव वहक जाता है तव कपाल के एक हिस्से में वधिरता आती है। उसी के साथ कपाल में ऊपर को जाने वाले स्नायू के (आक्सिपिटो फ्रान्टलिस) उसी अग को आधा लकवा भी होजाता है।

दसवां प्रकरण

कोढ़ के प्रकार

प्रकट-रोग-लक्षण की दृष्टि से कोढ के मुख्य दो प्रकार है। (१) मज्जातात्वीय (न्यूरल) अथवा सौम्यकुष्ठ और (२) कालकुष्ठ (लेप्रो-मटस्)। सन् १९३८ मे काहरा (इजिप्ट) में इटर नेशनल लेप्रसी कांग्रेस (आतर्राष्ट्रीय कुष्ठ काग्रेस) ने इन मुख्य दो प्रकारो की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार स्वीकार की थी

के कालकुष्ठ के रुग्णको में आरभ में वह खरावी नही होती है। सिर्फ आगे चलकर होती है। सौम्यकुष्ठ से कालकुष्ठ में वदले हुए रुग्णको में वह प्राय पाई जाती है।

मज्जातांत्वीय अथवा सौम्य कुष्टप्रकार

मज्जातात्वीय रुग्णको के (१) मडलीय (मॅक्युलर) और (२) स्पर्शशून्य (अनेस्थेटिक) ऐसे उपप्रकार है। मडलीय उपप्रकार में त्वचा और मज्जातंतु इन दोनो के लक्षण होते है, त्वचा पर चकत्ते नही होते। मडलीय उपप्रकार के सादे मडलीय (सिपल मॅक्युलर) और सूक्ष्मग्रथिल (ट्यूवरक्युलाइड मॅक्युलर) भेद है। मडलीय प्रकार के ही रुग्णक ज्यादा होते है। सादे मडलीय में चकत्ते साधारणत सपाट होते है। सूक्ष्म ग्रथिल में मोटे, ऊपर उठे हुए, रवेदार और छूने मे खुर-दरे होते है। उनकी मोटाई और रवेदारपन के प्रमाण के हिसाव से सूक्ष्म ग्रथिल के प्रधान और गौण दो सूक्ष्म उपभेद किये जाते है। नीचे इन सब मडलीय उपप्रकारो का एक साथ ही विचार करेगे।

(१) मडलीय स्थानीय

मज्जातात्वीय अथवा सौम्यकुष्ठ के इस मडलीय उपप्रकार मे त्वचा पर गोल लववर्तुलाकार अथवा विना किसी खास आकार के वल्कि खासकर सिरे की ओर मडल अथवा चकत्ते होते है। उनमें निम्नलिखित एक अथवा कई परिवर्तन होते है —

१–वर्णहानि (फीकापन होना)

२–पृष्ठभाग की सवेदनाशक्ति में ह्रास

३–रुग्णक के मज्जातंतु-परिवार का सख्त हो जाना

४–मोटाई और लाली, खासकर किनारे के हिस्से पर। कुछ व्रण होने की ओर झुकाव।

५—पसीना निकलने में खराबी होने से पैदा होनेवाली खुश्की, बालो की बाढ रुकना इत्यादि।

वर्णहानि सामान्य रूप से अशत होती है, पूर्णत नही। रुग्णको के कुछ हिस्से मे अधिक तो कुछ में कम होती है। कभी लाली के कारण तो कभी मासदाहक (कास्टिक) पदार्थ लगाने से कलझाये हुए मोटे दागो की वजह से फीकापन टक जाता है।

पृष्ठभाग की सवेदनाशक्ति के ह्रास में भी ऐसी ही कमी-बेशी होती है। चेहरे पर के रुग्णको मे तो वह नाममात्र को होती है। धड पर के (ट्रंक) रुग्णको में उसकी अपेक्षा अधिक और हाथ-पाव के रुग्णको में सबसे ज्यादा होती है। सारी सवेदनाशक्ति मे भी एक-सी विकृति नहीं होती। साधारणत शीतोष्णसवेदना पहले विकृत होती है। इसके बाद सुख-दु ख-सवेदना और अत में स्पर्श-ज्ञान का खातमा होता है। इस सवेदनात्मक अतर के साथ बहुत बार विकार के कारण बढा हुआ अति तीक्ष्ण स्पर्शज्ञान (हायपरस्थेशिया), हाथ पावो पर चुनचुनाहट, लहर उठना, आघात करने पर झनझनाहट अथवा पीडा होना इत्यादि जिन्हे रोगी खुद समझ सकता है (स्वयसवेद्य) फरक-भी होता रहता है।

रुग्णको से सबधित पृष्ठीय मज्जाततुओ की सख्ती का जाच द्वारा समझ में आना आसान नही है। बहुत बार मज्जाततु सूत्र सख्त होते है। विशेषत रुग्णको के मोटे होने पर मज्जाततुओ की सख्ती सहज में मालूम हो जाती है। पृष्ठीय मज्जाततु से सबध रखनेवाले शरीर-विभाग का पूरा ज्ञान प्राप्त करके ठीक जाच करने से मज्जाततुओ की सख्ती ध्यान में आ सकती है। यह सख्ती ऐसे मज्जाततुओ की उपशाखा से लेकर मुख्य स्तभ तक पसरी हुई पाई जाती है। स्तभ भी बहुत बार सख्त होता है।

क्रियाशील रुग्णको से मोटाई और लाली साधारणत पाई जाती है। उसका परिमाण भी कमोवेश रहता है। जो चकत्ते मोटे हो गये हैं उनमे यह ज्यादा दिखाई पडती है। कभी यह मोटाई और लाली थोडी-सी और सिर्फ किनारे की ओर ही होती है, कभी दोनो ही बिलकुल साफ-साफ होती है और रुग्णक के सारे-के-सारे बाहरी हिस्से को घेरे रहती हैं। कभी-कभी उसकी बहुत ज्यादती रहती है और सारे हिस्से मे व्याप्त रहती है। उसकी वजह से बाहरी त्वचा की बारीक पपडी निकलती है। कभी प्रत्यक्ष व्रण उत्पन्न होकर भी पीडा होती है। शरीर के चकत्ते मोटे और सुर्खी लिये होते है या उससे विपरीत भी होते है। ऐसे घन लाल और मोटे चकत्तो की सूक्ष्म शरीर-शास्त्र की दृष्टि से की हुई जाच के आधार पर बहुत बार उसे 'सूक्ष्म ग्रथिल' सज्ञा दी जाती है।

ये ऊपर बताये हुए मडल शरीर के किसी भी हिस्से पर हो सकते हैं। वे व्यास मे ⅛ इच जितने छोटे और १ फुट या इससे भी अधिक बडे तक हो सकते है। कभी एक ही व्रण होता है, तो कभी छोटे-छोटे सैकडो की तादाद मे होते है। यह छोटे-छोटे सैकडो व्रण मोटे हुए तो उनका गठियल (नाड्युलर) कोढ से साम्य रहता है।

क्रियाशील रुग्णक वर्तुलाकार बढते जाते है और एक दूसरे में घुसकर परस्पर गुथ जाते है। वे कभी-कभी कई महीनो, वर्षों अथवा सदैव सुप्त (अक्रियाशील) दशा में रहते हैं।

(२) स्पर्शशून्य उपप्रकार

विना व्रणो का सिर्फ मज्जातात्वीय कुष्ठ का यह उपप्रकार है। यह पृष्ठीय मज्जातन्तु के कुष्ठविकृत होने से पैदा होता है। रुग्णकों का मज्जाततुओ में का ससर्ग मुख्य स्तम्भ तक फैलते जाने से यह प्रकार हो जाता है। बहुत बार त्वचा अथवा पृष्ठीय मज्जाततु के प्रत्यक्ष विकृत न

मज्जातन्तीय (सौम्य) कुष्ठ, म, प्रकार।
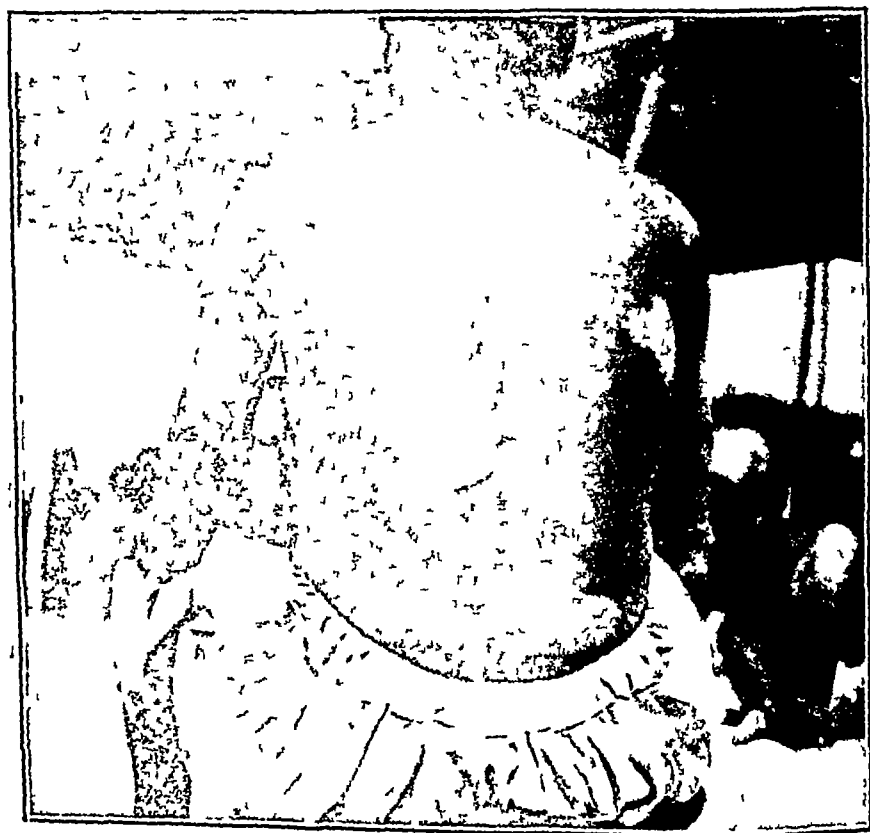
मज्जातांत्वीय (सौम्य) कुष्ठ, म$_2$ प्रकार ।

प्रगत मज्जातांत्वीय कुष्ठ, म$_3$ प्रकार, पजाकृति हात,
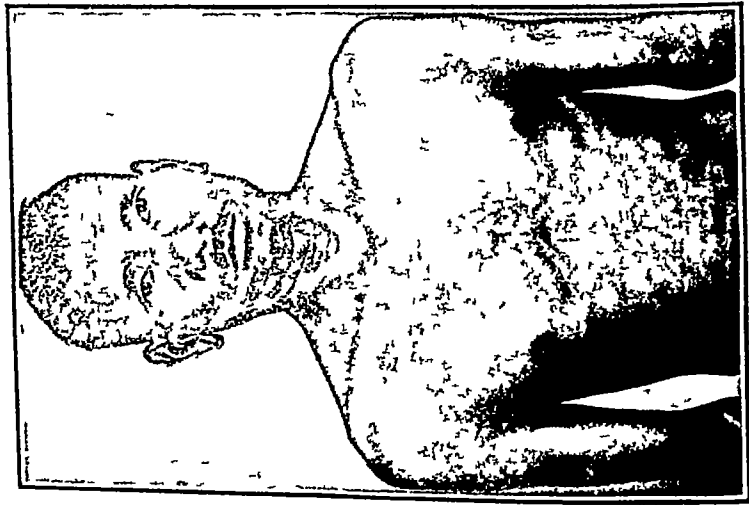
कालकुष्ठ – क$_{०}$ प्रकार।

कालकुष्ठ क$_{३}$ प्रकार, गांठयाल कुष्ठ

मिलने पर भी वैसा हो जाता है। विकृत हुए एक या अनेक मज्जातंतुओं में कुछ लक्षण दिखाई देने लगते हैं। उन्हें नीचे लिखे अनुसार रखा जा सकता है—

१—पृष्ठभाग की संवेदना शक्ति का बिगाड़। इसका आरंभ पृष्ठभाग से होता है और विकृत अवयव के अन्दर बढ़कर वह उसमें व्याप्त होने लगता है।

२—विकृत भाग में पसीना आने की क्रिया में खराबी। उसकी वजह से खुश्की आती है। रूखी या खाल छूटती है।

३—विकृत मज्जातंतुओं से पोषित स्नायु में क्षीणता आने से क्रिया शक्ति का अंशतः या पूर्णतः लोप और उसके कारण पैदा होनेवाली विरूपता।

४—पोषण विषयक विकृति—हाथ-पाँव की हड्डियाँ चिनकही हो जाती हैं अथवा पूर्णतः सूख जाती हैं। वेधक व्रण (परफोरेटिंग अल्सर) होते हैं। उसमें हड्डी सड़ जाने की वजह से अस्थि-कोथ (नेक्रासिस) हो जाता है। वह खींचकर बाहर निकाला जा सकता है। इस खराबी से पैदा होनेवाले दूसरे अप्रत्यक्ष परिणाम भी होते हैं।

साधारणतः नित्य के विकृत होनेवाले मज्जातंतु आरत्निक, पेरोनियल और बृहत् बाह्यकर्णीय होते हैं। घुटने के ऊपर की ओर के आरत्निक मज्जातंतुओं की विकृति स्पष्ट रूप से पहचानी जाती है। उसकी वजह से कानी अंगुली, अंगूठे के पोरुए और हाथ और प्रकोष्ठ (फोर आर्म) के आरत्निक द्वारा व्याप्त भाग में स्पर्शशून्यता आती है। फिर हाथ के सूक्ष्म स्नायुओं को लकवा होता है; और वह पक्षियों के पंजे के आकार-सरीखा 'पंजाकृति' (क्ला हैंड) हो जाता है। पेरोनियल मज्जातंतु घुटने की गुल्फास्थि (फिब्यूला) की ओर झुकता है वहाँ साधारणतः विकृति

आ जाती है। उसकी वजह से पैर का पीछे का हिस्सा और पैर की नली का आगे का हिस्सा स्पर्शशून्य हो जाता है। पेरोनियल स्नायु की हलचल की शक्ति क्षीण होजाती है। पैरो में एक प्रकार की विकृति आ जाने से चाल भचककर पडने लगती है। पैर की नली के पीछे के हिस्से की ओर नीचे उतरकर फिल्ली तक जानेवाली पीछे की जघास्थिगामी (टिबियल) मज्जातंतु फिल्ली के भीतर और बाहर की ओर विकृत होते हैं। उसकी वजह से पाव की नली सुन्न हो जाती है। बाहरी त्वचा विकृत और खूब मोटी हो जाती है। पाव के तलुए पर वेवक व्रण उत्पन्न हो जाते हैं।

विकृत हुए मज्जातंतु साधारणत मोटे और कितनी ही बार तो बहुत मोटे हो जाते हैं। आरत्निक और पेरोनियल दशा में यह विशेषरूप से होता है। कभी-कभी मज्जाततुओ की विकृति के कारण उसमें बिना मुह का फोडा अमुखव्रण हो जाता है। इसका पहले उल्लेख होचुका है।

प्रकोष्ठीय (रेडियल) मध्यगत (दड और प्रकोष्ठ की मध्यरेखा को जानेवाला, मीडियन) और मस्तिष्क से निकलनेवाले पाचवे और सातवें, शीर्षीय (क्रेनियल) मज्जातंतु भी मोटे होनेवालो में से हैं। प्रकोष्ठीय और मध्यगत मज्जातंतु के विकृत होने से हाथ में शून्यता आती है। पोपणविषयक खराबी पैदा होती है।

मस्तिष्क से निकलनेवाले ५ वें और ७ वें मज्जातंतु के कुष्ठ-विकृत होने से आखो के पारदर्शी पटल (कार्निआ) को स्पर्शशून्यता घर लेती है। चेहरे और अक्षिकोप (आर्बिट) के स्नायु की सचालन शक्ति लुप्त हो जाती है, नेत्रपटल बाहर की ओर निकल आते हैं और नेत्रावरण—पलकें (कजन्क्टिव्हा) खुली और असरक्षित रहती हैं। आखें बद नहीं हो पाती। इससे आखो में कोई चीज पड़ने पर पता नहीं चलता—उसका स्पर्श नहीं मालूम होता है। इससे हानि होने का बडा डर रहता है। बहुत

बार नेत्रावरण की जलन (कजक्टिविटिस) पैदा हो जाती है अथवा पटल पर व्रण हो जाते है।

स्पर्शशून्य सौम्यकुष्ठ जब जोर पकड जाता है तो ऐसे रोगी के पूरे-के-पूरे दोनों हाथ-पैर, सारा धड और चेहरा स्पर्शशून्य हो जा सकता है। अपोषण क्षय (लकवा) और पोषण विषयक दूसरी खराबी पैदा हो जाती है। हाथ-पावो पर और चेहरे पर व्यगता और कुरूपता आजाती है।

इस स्पर्शशून्य उपप्रकार में सूक्ष्म दर्शक के द्वारा कुष्ठजतु बहुधा नही पाये जाते।

(३) मिश्र प्रकार

मडलीय और स्पर्शशून्य दोना उपप्रकार एक ही रोगी मे एकत्र भी हो सकते है। यह माना जा सकता है कि सौम्यकुष्ठ में त्वचा पर के चकत्ते, पृष्ठीय मज्जातंतु और उसके मुख्य स्तभ तक ही ससर्ग मर्यादित रहता है। नियमानुसार तो शरीर भर में ऐसी खराबी नही आती है। कालकुष्ठ से लौटकर सौम्यकुष्ठ में आये हुए रोगी मे अथवा कुष्ठ-प्रतिक्रिया शुरू हुए रोगी मे शरीर भर में खराबी होती है।

ऊपर वर्णन किये हुए सब लक्षणो मे (१) पृष्ठीय मज्जातंतु की निश्चित सख्ती और (२) सवेदना का ह्रास ये दोनो लक्षण कोढ का निदान करने में निर्णायक है।

कालकुष्ठ-प्रकार

कोढ के मुख्य दो प्रकारो की व्याख्या देते हुए, जैसा कि कहा जा चुका है, उग्र अथवा तीव्रतर रूप के रुग्णको में यह कालकुष्ठ प्रकार पाया जाता है। उसमे रोग-ससर्ग-सबधी पेशीजाल की प्रतिक्रिया करीब-करीब नहीं-जैसी होती है। पेशीजाल में कुष्ठजन्तुओ की सख्या बे-रोकटोक बेहद बढती और फैल जाती है। पेशीजाल उनकी कोई प्रतिक्रिया मात्र

नहीं करता। मज्जातात्वीय प्रकार की अपेक्षा इस प्रकार में व्रण अथवा रुग्णक अस्पष्ट उभरे हुए रूप मे पाये जाते है। वे शरीर में अधिक प्रमाण में फैले हुए होते हैं। त्वचा, मज्जातंतु, श्लेष्मलत्वचा, रसग्रंथि और भीतरी अवयवो तक बहुधा रोग-संसर्ग पहुंचा हुआ रहता है। प्रकट-लक्षण-दृष्टि से मुख्य रुग्णक त्वचा और श्लेष्मलत्वचा में होते हैं। इस प्रकार में कुष्ठग्रंथि (नाड्यूल्स) पैदा होती है। सावारणत (हिंदुस्तान में तो) विशेष खराबी की हालत के कुछ उदाहरणो मे वह पाई जाती है। कुछ कार्यकर्ताओ का जो यह खयाल है कि कुष्ठग्रंथि का मिलना इस प्रकार का एक लक्षण है, यह सही नही है। कालकुष्ठ-प्रकार की त्वचा के रुग्णक वार-बार होते हैं। अनुक्रम निम्नलिखित है—

१—तनिक-सा अस्पष्ट उभरे-रूप मे सूजा हुआ फूला-सा भाग। बहुत वार उसपर सुर्खी, त्वचा पर एक प्रकार का चमकीलापन, स्पर्श मखमल-सा मुलायम।

२—रंग में बदले हुए चकत्ते अथवा अस्पष्ट ऊंचाई से घिरा हुआ त्वचा भाग। सौम्यकुष्ठ और कालकुष्ठ के चकत्तो का भेद भलीभांति पहचानना आना चाहिए। कालकुष्ठ के चकत्तो का ऊपरी हिस्सा अधिक गुलगुल होता है। उसपर एक तरह का चमकीलापन और मखमलीस्पर्श-सा होता है। ऊंचाई अस्पष्ट होती है, सिमटे हुए नही होते। इस दशा में स्पर्श-वेदना में परिवर्तन नही पाया जाता। पृष्ठीय मज्जातंतु सख्त नहीं हुए रहते। और सूक्ष्मदर्शक द्वारा अनेक कुष्ठजंतु पाये जाते है।

३—त्वचा अथवा उसके नीचे के पेशीजाल मे कुष्ठग्रंथिया पैदा होती है। कभी ये गाठें आकार में बहुत बडी होती है। कभी बिलकुल नन्हीं फुंसी-सी दिखाई देती है।

४—गाठ फूटकर व्रण हो जाते है जो नम अथवा बहते रहते हैं।

कालकुष्ठ-प्रकार मे आरभ मे रुग्णक कुछ विशिष्ट भागो में ही स्थानवद्ध रहते है। पर साधारणत यह स्थानवद्धता ऊपरी ही होती है। क्योकि दूसरी ओर के अविकृत भाग की सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा करने पर वहा भी कुष्ठजतु पाये जाते है। कालकुष्ठ के प्रगत रोगी में शरीर पर की कुल त्वचा कुष्ठविकृत हो जाती है। रुग्णक वाहर सिर्फ कुछ विशिष्ट भाग में खास तौर से पाये जाते है। उदाहरणार्थ मुह, कान, पीठ, छाती, घुटना, केहुनी, पजे का ऊपरी हिस्सा। त्वचा के कालकुष्ठ से विकृत होने का एक लक्षण केशहानि (डीपिलेशन) होता है। सारे ही शरीर पर के वाल उड जाते है। खासकर चेहरे पर भौंहे, डाढी और मोछ के वारे में यह दशा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। अडकोष पर के केश भी उड जाते है।

इस प्रकार में त्वचा के रुग्णक में स्पर्श-सवेदन सवधी परिवर्तन नही पाया जाता। तथापि पृष्ठभागीय मज्जाततु का स्तभ विकृत हो जाने से हाथ-पैरो में थोडी-सी स्पर्शशून्यता आजाती है। साधारणत लोग इसे मुर्दारपना कहते है। मज्जातत्तु कुष्ठविकृत होते है, पर सौम्यकुष्ठ की अपेक्षा उसमें सख्ती कम मालूम होती है। स्पर्शशून्यता, पोषण-विषयक रुग्णक, लकवे इत्यादि का इस प्रकार के लक्षणो में गौण स्थान होता है। ऐसे रोगी में आगे चलकर त्वचा का रोग धीरे-धीरे कम होने से त्वचा के रुग्णक मुरझाने लग जाते है और उस जगह श्वेततंतु-पेशीजाल पैदा हो जाता है। जिससे सिकुडन पड जाती है, विकृत त्वचा खखरी हो जाती है। इस दशा में फिर वहा स्पर्शशून्यता आने लगती है और पोषण-विषयक रुग्णक दिखाई देने लगते हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि रोगी के सुवरने में उसके फिर सौम्यकुष्ठ में जाने और तव उसके लक्षण दिखाई देने की सभावना रहती है।

कालकुष्ठ प्रकार मे श्लेष्मल त्वचा वहुधा विकृत हो जाती है। नाक, कठ और स्वरयत्र (लेरिंक्स) की श्लेष्मल त्वचा का पूर्ण कुष्ठविकृत होना सभव है। वहुत वार उसपर गाठ और व्रण भी पाये जाते है। नाक के ऐसे रुग्णको की वजह मे नासा-पटल नाक में का परदा, (सेप्ट्यूम) गायव हो जाता है और नाक वैठ जाती है, कठ में घर्घराहट की आवाज आती है अथवा कभी-कभी श्वास-रोघ भी होने लगता है। रोग की भयकर अवस्था मे आखो का पारदर्शी पटल कुष्ठविकृत पाया जाता है। पलक और पुतली का जीर्ण दाह भी पाया जाता है। अडकोप का विकृत होना भी मामूली वात है। जिसकी वजह से वहुत वार वहा के वाल झड जाते है। स्तन फूल जाते है। अडकोप का अन्त स्राव क्षीण होने की वजह से दूसरी खरावियां भी हो जाती हैं। शवच्छेदन होने पर दूसरे भीतरी अग भी कुष्ठविकृत पाये जाते हैं, पर वाहरी लक्षण नजर नही आते।

कालकुष्ठ का उपप्रकार नही है। उसके एक प्रकार को सकीर्ण अथवा विकीर्ण (डिफ्यूज) कालकुष्ठ कहते है। उसमे त्वचा पर सर्वत्र विलकुल सूक्ष्म वूद सरीखे असख्य रुग्णक होते है। ऊपर नवर एक में वताये अनुसार लाली, अस्पष्ट उभार, नरम गुलगुल स्पर्श वा विशिष्ट चमक उसपर होती है। विशेष अभ्यास के विना इस किस्म की शीघ्र पहचान नही होती। हिन्दुस्तान मे जव-तव यह किस्म पाई जाती है। पर उसे आज भी सव जगह स्वतन्त्र उपप्रकार नही माना जाता।

होते है, इस मम्वन्ध मे पन्द्रहवे प्रकरण मे फिर उल्लेख किया जायगा।

वाह्य लक्षणो से, मूक्ष्मदर्शक मे अथवा छीलन (मेक्शन) लेकर सूक्ष्म शरीर शास्त्र दृष्ट्या (हिस्टालाजिकली) भी कभी-कभी परीक्षा करनी पडती है। सौम्यकुष्ठ मे वाहिनी के सामने कणसघ (ग्रेन्युलोमा) गाढ और सिमटा होता है। साधारणत वह रोममूल और घर्मपिड के आमपास अथवा नीचे के पेशीजाल में पाया जाता है। खासकर 'उपलेपक पेशी' (एपिथेलाइड सेल) होती है। उसमे 'दीर्घकाय' (ज्याट्) पेशी भी साधारणत पाई जाती है। जहा जोरो की प्रतिक्रिया चलती है उन रुग्णको मे यह 'दीर्घकाय' पेशी तो वरावर ही पाई जाती है। इसके, विपरीत कालकुष्ठ दशा मे रुग्णको में कणमघ ढीला और विखरा हुआ होता है। जतु पाये जाते हैं। उसमें 'कुष्ठपेशी' अथवा 'फेनपेशी' होती है। दीर्घपेशी प्राय नहीं होती।

सर्वगत अन्त सेक

ऊपर कहा जा चुका है कि कालकुष्ठ के क्षीण प्रतिकार के उदाहरण मे यह मर्वंगत अत सेक होता है, वाह्यत समझने योग्य लक्षण कम होते है, जिसकी वजह मे जानकारो से भी भूले हो जाती हैं। सूक्ष्मदर्शक के द्वारा सिर्फ अनेक जतु पाये जाते है। व्यवहार में ऐसो के रोग-निर्णय करने मे वडा धोखा रहता है। वे पहचान मे नही आते, सवमें मिलते-जुलते रहते है और वरावर छूत फैलाते रहते है।

कई वार इस प्रकार मे त्वचा खूव मोटी होजाती है। अगर यह चेहरे पर हुआ तो वहा फूली हुई सूक्ष्म सिकुडन-सी पडी दिखाई देती है। उसमें लाली आजाने से चेहरा सिहमुखी (लिओन्टियासिस) दिखाई देता है। कान पर भी ऐसा ही होता है।

सकता । जरासी जख्म की जगह मे कुष्ठजतु ज्यादा तादाद मे जमा हो जाते और वढते है। सामने का पेशीजाल उसका विशेष प्रतिकार करता है। सम्भव है इस प्रतिक्रिया के कारण वह गाठ वन जाती हो।

वारहवां प्रकरण

विशिष्ट अवयवों के रुग्णक

त्वचा में और मज्जाततु के कोढ के रुग्णको के विस्तार-पूर्वक विवेचन करने के वाद अव विशेष अवयवो मे जो विशेष प्रकार के रुग्णक पैदा होते है सुगमता के लिहाज से उनका स्वतत्र रूप से विचार करना और ज्यादा अच्छा होगा। ये रुग्णक साधारणत कम पाये जाते हैं। रोग-निदान और उपचार की दृष्टि से उनका महत्त्व है। वे खासकर (१) आख, (२) नाक, (३) मुह और कठ (४) श्वसनेंद्रिय और (५) जननेन्द्रिय पर पाये जाते है। कोढ मे व्रणो का भी अलग से विचार करना पडता है।

आखों के रुग्णक

कोढ के कारण होने वाले रुग्णको में आखो के रुग्णक सवसे अधिक दु खद और अपग वनानेवाले होते हैं। इनका पहले प्रसंगवश उल्लेख आचुका है। पर उनका स्वतन्त्ररूप से विचार करने की जरूरत है। इन रुग्णको के पारस्परिक भिन्न दो वर्ग होते हैं। पहला प्रकार ५ वे और ७ वें शीर्षीय मज्जाततु के विकृत होने से होता है। उसमें पारदर्शी पटल (कार्निआ) में वहरापन पैदा हो जाता है। पलको की खुलने-वन्द होने की क्रिया में खरावी आती है। दूसरे प्रकार में आंख

के कोए या पुतली (लेन्स) प्रत्यक्ष कुष्ठविकृत हो जाती है। यह दशा भयकरता प्राप्त रोगी में होती है। पहिला प्रकार मज्जातात्वीय स्वरूप का होता है, दूसरा कालकुष्ठीय होता है।

(१) प्रतिकारसम उदाहरण मे चेहरे पर मज्जातात्वीय कुष्ठ के बडे-बडे रुग्णक होने पर सामने की त्वचा की नाई कोएका आगे का भाग भी सुप्त हो जाता है। चेहरे पर स्पर्श शून्यता आजाने पर भावव्यक्तस्नायु पर असर होता है। इसके कारण उस स्नायु की सार्वकालिक निरोगी स्थिति नही रहती। उसकी क्रिया-शक्ति विगड जाती है। विशेपकर पलको को खोलने और बन्द करनेवाले स्नायु में यह स्पष्टत' प्रकट हो जाता है। पारदर्शी पटल की परावर्तन अथवा प्रतिक्षिप्त क्रिया (रिफ्लेक्स ऐक्शन) के निरस्त हो जाने से और पलको के पूरे बन्द होने में असमर्थ होने से कोओ का नैसर्गिक सरक्षण नही हो पाता। विशेपकर निद्रा के समय यह सरक्षण न रह जाने से हानि होने की अधिक सभावना रहती है। विशेप सरक्षण का उपाय न किया जाने पर नेत्रावरण मे जलन (कन्ज्याक्टिविटिस) होने लगती है। कई वार पारदर्शी पटल पर भी व्रण निकल आते हैं। भयकरता को पहुचे हुए उदाहरणो में पलकें वाहर निकल जाती है। पलकों के भीतरी भाग पर अश्रुनलिका के जो सूक्ष्म छिद्र है वे भी इसकी वजह से वाहर निकल आते है और खुले रह जाते है। आसू गाल पर वहते रहते है। अश्रुकोप (लक्रिमल सक्) जव प्रत्यक्ष रूप से विकृत हुआ रहता है अथवा नाक में रुग्णक होते है, तव अश्रुमार्ग (लक्रिमल डक्ट) वन्द-सा हो जाता है। उसमें अमुखव्रण पैदा होने की सभावना रहती है।

(२) कोओ के प्रत्यक्ष रूप से कुष्ठविकृत होने से होनेवाले काल-

कुष्ठीय रुग्णक इस दायरे में पड़ते हैं। चारो ओर की त्वचा के पूर्णत विकृत हुए बिना कोये प्रत्यक्ष रूप से कुष्ठविकृत नही होते। पहला ससर्ग रक्तवाहिनियों (ब्लड वेसल्स) द्वारा जाकर एकत्र हुए जतुओं के कारण होता होगा। अधिक उदाहरणो मे चेहरे के चारो ओर की त्वचा से रस-वाहिनियो (लिंफटिक्स) के द्वारा ससर्ग का पहुचना सभव है। आख के ऊपर की भांति ही भीतरी अग में भरपूर ससर्ग पहुच जाने पर भी रोगी को खुद समझने लायक (स्वसवेद्य) अथवा वाह्य लक्षण विलकुल ही दिखाई नही देते। आखे विकृत होने पर कुष्ठ प्रतिक्रिया साधारणत लक्षित होती। ऐसे समय जाच करने पर नेत्रावरण मे रक्त-सचय (कन्जेक्शन) पाया जाता है। प्रकाश असह्य हो जाता है (फोटो-फोविया)। प्रकाश की आख के अदरूनी हिस्से मे जो प्रतिक्रिया होती है अथवा दृष्टि का मेल सावने की जो शक्ति होती है उसमें कुछ खराबी पैदा हो जाती है।

कुछ उदाहरणो में वाह्य अवयव विशेष विकृत दिखाई देते है। नाक की ओर आखो के कोनो में तिकोने आकार का गाढा-सा भाग (टेरेजियम) एकत्र होजाता है। वह पारदर्शी पटल पर भी पसरने लगता है। जैसे शिराजाल रोग में (पनस्) होता है वैसे ही पारदर्शी पटलो का स्वरूप रुखडे काच सरीखा हो जाता है। यह वहुधा ऊपर की अर्धाली मे होता है। पर कुछ समय में कनीनिकापुतली (प्यूपिल) को भी ग्रस लेता है। बाहरी अगो के विकृत होने पर अन्दर का भी प्राय रक्षित नही रहता है। अट्रोपिन डालने से पुतली (प्यूपिल) के वढने की जो क्रिया होती है वह अव्यवस्थित अथवा मन्द हो जाती है। कभी-कभी वह पूर्ण स्थिर हुई दीखती है। सव कालकुष्ठीय उदाहरणो मे चेहरे पर रुग्णक होने पर अट्रोपिन डालकर पुतली की क्रिया की जाच

कर लेना अच्छा है। कारण, बाहर से निरोगी दिखाई देनेवाले नेत्रो में भी पुतलियो की छोटी-बडी होने की शक्ति बिगडी हुई होती है। इसके सिवा भीतरी अवयवो में ससर्ग पहुचने के बारे मे जानने का वह एक साधन हो जाता है। शुभ्रपटल (स्क्लेरा) दुरुस्त रहने पर भीतर के अवयव के विकृत होने की सभावना नही रहती। आखो की बाहर से बहुत थोडी दिखनेवाली विकृति भी कुष्ठ-प्रतिक्रिया मे दुःसह चक्षुपीडा (आपथल्मिया) पैदा कर देती है।

नाक के रुग्णक

नाक की श्लेष्मलत्वचा की झिल्ली में अथवा खरोंच लगे हुए भाग से ससर्ग शरीर में फैलता है इस अनुमान की पुष्टि मे काफी प्रमाण मिलते है। नाक के भीतरी हिस्से का उपलेपक (एपिथेलियल्) पेशीजाल त्वचा की अपेक्षा पतला होता है। इसकी वजह से और विशेषत खाज के कारण नाखून से खुजला देने पर उसमें से जतुओ के अन्दर घुसने का सुभीता हो जाता है। त्वचा के सौम्य अथवा कालकुष्ठ के जितने प्रकार के रुग्णको का जिक्र ऊपर किया जा चुका है उतने सब रुग्णक नाक की श्लेष्मलत्वचा में भी होते है। सौम्यकुष्ठ मे त्वचा की भाति श्लेष्मलत्वचा स्पर्शशून्य रहती है। बहुत रोगियो में जुकाम नही बहता, ऐसी दशा में श्लेष्मलत्वचा मे सतत रहनेवाली नमी और सुर्खी नही पाई जाती। वह सूखी और फीकी दिखाई देती है।

कुछ अन्य उदाहरणो में नाक के भीतरी भाग में ससर्ग बहुत ही भिना हुआ होता है। नीचे की भाले के आकार की हड्डी (इन्फीरियर टर्बिनेट) लाल और गठीली दिखाई देती है। नाक के परदे पर व्रण होते है। अथवा पुराने व्रणो के काले-काले-से दाग होते है। नाक के छिद्र सूखे हुए नेटे (नाक की श्लेष्मा) के कारण बद होजाने से रोगी को बहुत

पीडा होती हैं। रक्त-प्रवाह का अभाव हो जाने अथवा व्रण हो जाने के कारण कूर्चामय (कार्टिलेजिनस्) आवरण में छेद हो जाते हैं अथवा वह गायब हो जाता है। उपदश रोग में जैसे हड्डी के आवरण जाते रहते हैं वैसा कोढ में बिलकुल नहीं होता। इन दोनो रोगो में यह फर्क ध्यान मे रखना चाहिए। कूर्चामय आवरण के जाते रहने से नाक चपटी हो जाती है। पर खास कर के नाक के भीतर व्रण हो जाने से श्वेततंतुओ का जो आकुचन होता है उसकी वजह से ऐसा होता है।

मुंह और कठ के रुग्णक

मुह के चारो ओर की त्वचा विकृत होने के बाद साधारणत: होठो पर रुग्णक पाये जाते हैं। पर प्रारम्भ में पहले वहा नही होते। होठ के बाहर की ओर किनारे पर बहुत बार कुष्ठ-ग्रथि दिखाई देती है। होठो पर के और चारो ओर के रुग्णक जब बहुत बढ जाते हैं तो आकुचन होता है और मुह पूरा खुल नही सकता (स्टेनासिस)।

कालकुष्ठीय-प्रकार के भयकरता प्राप्त रोगी की जीभ पर गाठ भी साधारणत उभर आती है।

तालू पर गठीले अथवा बिखरे रुग्णक उठ आते है। कुष्ठविकृत पेशीजाल के फटने से या नष्ट हो जाने से मृदु तालु (साफ्ट प्लेट) और सप्तपथद्वार[1] (फासेस) क्षुब्ध और व्रणयुक्त हो जाते हैं। इन

---

१ मुह खोलने पर दोनो कमानियों के पीछे जो मार्ग है उसे सप्तपथ (फॅरिक्स) कहते हैं। कारण वहा सात मार्ग आकर मिले हैं। दोनो कमानियो के बीच के दरवाजे को सप्तपथद्वार (फासेस) कहते हैं। सप्तपथ और सप्तपथद्वार इन दोनों को मिलाकर कंठ कहते हैं। सप्तपथ में मिलने वाले सात मार्ग—१ मुह का मार्ग, २-३ नाक के मार्ग के दो द्वार, ४ अन्न-मार्ग, ५ श्वासमार्ग, ६-७ कान और कंठ को जोड़नेवाली नलियों के दोनों छिद्र।

व्रणो के अच्छे होने पर चकत्ते का हिस्सा सिकुडता है। उसके कारण नप्तपथद्वार घिरा-मा होता है। फुफ्फुस में हवा लेजानेवाली नलिका (एअर पैसेजेस) और श्वास-मार्ग के परदे (एपिग्लाटिस) के चारो ओर के व्रण दुरुस्त होकर सिकुडते हैं। उसकी वजह से श्वास-मार्ग का अशत अवरोध होता है। यह प्रकार वहुत तीव्र होने पर श्वासनलिका पर शस्त्रक्रिया (ट्रकिआटामी) भी करनी पडती है। कोढ में तालू में छिद्र हुए भी पाये जाते है। पर साधारणत वह सहचारी उपदश का परिणाम होता है। नाक की श्लेष्मल त्वचा से रसवाहिनियो के द्वारा कठ माधारणत विकृत हो जाता है।

नाक, मुह के व्रण अच्छे होने पर जव श्वेततनु उत्पन्न होने की क्रिया (फायब्रासिस) विशेपता से होती है तव गवज्ञान और रुचिज्ञान पूरा अथवा कुछ अश में गायव हो जाता है। सौम्यकुष्ठ में जिह्वा के मज्जातनु (लिग्वल नर्व) विकृत हुए रहते हैं, और रुचिज्ञान विगड़ जाता है। कुष्ठविकृत पेशीजाल नष्ट होजाने की वजह से जीभ और तालू पर गहरा रग आजाता है। स्वरयत्र (लेरिक्स) विकृत हो-जाने मे कोढी की आवाज प्राय भर्रा जाती है। मुख्य स्वरतनु (वोकल-कार्ड) भी कुष्ठविकृत हो मकते है।

श्वसनेन्द्रियों के रुग्णक

कालकुष्ठ की विकराल दशा के उदाहरण में रोगी के थूक के साथ मवाद मिली हुई आती है। उसमें अनेक कुष्ठजतु पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष फुफ्फुस कुष्ठग्रस्त होते हैं या नहीं इसके वारे में सशय है। श्वास-नलिका (ट्रकिआ) में कुष्ठग्रथि फूटने की वजह से ऐसा थूक आता होगा। अथवा ऊपर की श्वासवाहिनिया (ब्रान्काय) वहुत ही विकृत हो जाने की वजह से ऐसा हो सकता है। कुछ उदाहरणों में यह पूय-

स्राव नाक अथवा कठ मे से आता होगा। क्षय और कोढ दोनो बहुत वार एक साथ होते हैं। उनकी भेदकारी (डिफरेन्शियल) जाच करनी चाहिए। सशय होने पर सफेद चूहो के वदन में उस थूक का इजेक्शन देकर निर्णय किया जा सकता हैं। अगर कोढ होगा तो कोई नतीजा नही होगा। क्षय होने पर चूहे पर रोग का असर होगा।

जननेन्द्रिय के रुग्णक

कोढ के समस्त प्रगत उदाहरणो मे वीर्यपिड और अडकोप कुष्ठ-विकृत होते है। गोलियो के भीतर और दोनो गोलियो के वीच के भाग मे, दोनो जगह ससर्ग फैलता है। वीर्यनलिका मे भी ससर्ग फैलता होगा। गोलियो का पेशीजाल जाता रहता है और श्वेततंतुओ का एक गोला-सा वन जाता है। वहाके वाल झड जाते है। अडकोष की अन्त-स्राव क्रिया वन्द हो जाने से स्तन वेतरह फूल जाते हैं। नारगी के आकार के या उससे भी वडे हो जाते है। जवतव उनमे वेदना होती है। वह कुछ काल तक जैसे-के-तैसे रहते हैं। उनमें भी कुछ पारी होती है।

इसके सिवाय, कोढ मे नपुसकत्व आ जाता है। अन्त स्राव प्रणाली (इडोक्राइन सिस्टम) में परस्पर सम्वन्ध विगड जाता है। उसे वक्त रहते न सुधारा गया तो रोगी की मानसिक और शारीरिक स्थिति गिर जाती है और वह उदास रहता है।

शवच्छेद करने पर रज पिंड (ओवरी) और मूत्रपिड (किडनी) कुष्ठविकृत पाया जाता है। पर जीवितावस्था में उनके काम मे कोई खरावी नही दिखाई देती।

कोढ़ में व्रण

पूर्वकथनानुसार ये व्रण दो प्रकार के होते है। उनका भेद समझना वहुत जरूरी है। पहले प्रकार के व्रण मज्जातंतु के द्वारा मिलने-

वाले पोषण के नष्ट होने से पैदा होते है। वे पैरो को नीचे से ऊपर की ओर की वेधन क्रिया की तरह काटते जाते है। इसलिए उन्हे 'वेधक व्रण' (परफोरेटिंग अल्सर) कहते है। ऐसे व्रणो में से कुष्ठजतु साधारणत प्राय बाहर नहीं निकलते। उनसे जितना डरा जाता है उस हिसाब से वे रोग कम फैलाते है।

दूसरे प्रकार के व्रण (कालकुष्ठीय व्रण) है। वे त्वचा अथवा श्लेष्मल-त्वचा में के रुग्णको के फूटने से होते है। ऐसे व्रणो के पाये जाने की नियमित जगह नथुने है। ऐसे व्रणो में से असख्य जतु निकलते रहते है। कुष्ठग्रथि फूटने से होनेवाले व्रण भी इसी दायरे में आते है। रोग को फैलाने में इन व्रणो का प्रमुख स्थान है।

मज्जाततु में के अमुखव्रणो की एक अलग ही क़िस्म है। वे फूटकर बहने लगें तो उन्हे दूसरे व्रणो की भाति समझने में हर्ज नहीं है। उनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

तेरहवां प्रकरण

कुष्ठ-प्रतिक्रिया

कोढ बडा जीर्ण रोग है। इसमें चढाव उतार बहुत धीरे-धीरे होता है। रोगी में हफ्तो या महीनो तक भी कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नही होता। तथापि कुछ रोगियो में कुष्ठ-प्रतिक्रिया अथवा ज्वर की दशा आती है, उस समय रोग के लक्षणो में एकबारगी अचानक कुछ वृद्धि हो जाती है।

इस कुष्ठ-प्रतिक्रिया के कारण बहुधा दुर्बोध अथवा सशयित रहते

धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है, उसकी हालत उत्तरोत्तर विगडती जाती है। खयाल है कि कालकुष्ठ में ससर्ग-केंद्र (लेप्राटिक् फोकस्) के फूटकर शरीर मे फैलने से यह प्रतिक्रिया होती होगी।

आरोग्य सुधर कर प्रतिकार-शक्ति के पूर्ववत् होने या वढने पर कोढी मे एक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। यह आरोग्यस्थापनारूपी (रिकवरी) प्रतिक्रिया उपर्युक्त प्रतिक्रिया मे भिन्न होती है। इसका भेद समक्ष रखना चाहिए। एक प्रतिकार-शक्ति के घटने की वजह से होती है, दूसरी प्रतिकार-शक्ति के वढने लगने के कारण होती है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के सवध मे ध्यान में रखनेवाली एक और ज़रूरी वात है। प्रतिक्रिया कोई टिकाऊ अवस्था नही होती है। विना किसी खास उपचार के भी थोडे समय के वाद वह साधारणत अपने आप दव जाती है। रोगी प्रतिक्रिया के पूर्व जिस दशा में था, फिर वहुधा उसी दशा में हो जाता है। इस वात पर गौर न करने के कारण वहुत वार गडवड हो गई है। प्रतिक्रिया शीघ्रपरिणामी (अक्यूट) अथवा जीर्ण-विलवी (क्रानिक) स्वरूप की भी हो सकती है।

चौदहवां प्रकरण

कोढ़ की वृद्धि और उतार का क्रम

हिन्दुस्तान में कोढ की हमेशा नही तो प्राय सौम्यकुष्ठ से शुरुआत होती है और उससे आगे नही वढता है। थोडे से उदाहरणो में कुछ सप्ताह या कभी-कभी कुछ वर्ष वीतने पर कालकुष्ठ के रुग्णक पैदा होते हैं। इतनी तरक्की कर लेने पर रोग वहुधा धीरे-धीरे वढता रहता

क्रमश नष्टप्राय हो जाते है। श्लेष्मलत्वचा और दूसरे कुष्ठविकृत पेशी-जालो मे भी ऐसा ही परिवर्तन हो जाता है।

पन्द्रहवां प्रकरण

कोढ़ का निदान (रोग-निर्णय)

रोग-मसर्ग होने के वाद रोग कैसे-कैसे वढता जाता है, उसके कौन-कौन से लक्षण किस-किस अवयव मे दिखाई देते है, उसमे चढाव-उतार होते हुए कौन-सा फर्क पडता है, इन सव वातो का पहले विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। किमी अन्य रोग के निदान मे या उस रोग का प्रकार तय करने मे जैसे रोगी की सपूर्ण परीक्षा की जाती है, वैमी ही कोढी की भी की जानी चाहिए। कोढ मे वाह्य प्रकट लक्षणो से,सूक्ष्म-दर्शक-परीक्षा और सूक्ष्म शरीरशास्त्र-दृष्टि-परीक्षा के आवार पर रोग-निर्णय किया जाता है। कोढ के निदान मे उपयोग में आनेवाली रक्त-जलविषयक (सीरालाजिकल) परीक्षा अभी तक उपलव्ध नही हुई है। यह पुस्तक किसी डाक्टर या वैद्य के लिए नही वल्कि सर्वसाधारण जिज्ञासु नागरिको के लिए है, अत उन्हे एक सूचना देना जरूरी है। कोढ का निदान करना वडी जोखिम का काम है। जो इसके जानकार है उनके सिवा दूसरो को कभी यह नही कहना चाहिए कि अमुक को कोढ है। शका होने पर स्वय सावधान रहना चाहिए। उसे फौरन डाक्टर से जाच कराने की सलाह देनी चाहिए। वहुत वार सिर्फ कोढ का नाम सामने आते ही रोगी को धक्का लगता है। इसलिए अनधिकृत लोगो को निर्णय नही करना चाहिए, यह दोनो पक्षो के लिए हितकर है।

महारोग के निर्णायक लक्षण

कोढ का निदान करने मे निर्णायक (कार्डिनल) लक्षण सिर्फ तीन ही है—(१) पृष्ठीय सवेदना में ह्रास, (२) मज्जाततु की नली और (३) सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा मे कुष्ठजतुओ का पाया जाना। इनपर जितना जोर दिया जाय उतना ही कम है। यह मुख्य नियम है कि इन तीन लक्षणो में से कोई न मिले तो कभी कुष्ठ रोग नही मानना चाहिए। शायद ही कभी इस नियम का उल्लघन होता है। पर ऐसे अपवाद प्रसगो में खास कारण अथवा परिस्थिति होती है। इसका निर्णय करना विशेषज्ञो का काम है। कोढ से कितना भी हूबहू मिलनेवाला उदाहरण क्यो न हो, इन तीन लक्षणो में से कोई एक-दो निश्चय रूप से मिले बिना कभी रोग-निर्णय नहीं करना चाहिए। ये तीन लक्षण कैसे ठहराने चाहिए, इनका तरीका नीचे लिखे अनुसार है।

१ पृष्ठीय सवेदना में ह्रास—सवेदना मे स्पर्श-सवेदना, सुख-दुख-सवेदना और शीत-उष्ण-सवेदना इन तीनो की परीक्षा करनी चाहिए। यह सवेदना का ह्रास प्रत्यक्ष दागो पर अथवा अवयव मे बिलकुल दूर के अग पर होता है। इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि बहुत बार स्पर्शशून्यता अधूरी होती है, पूर्णरूप से नही होती कुछ रुग्णको मे वह स्पष्ट होती है, कुछ में नाममात्र को होती है। स्पर्शशून्यता जाचने के लिए बिल्कुल पतले कागज का तिकोना टुकडा, पाख या बत्ती की तरह बटी हुई रुई लेनी चाहिए। रोगी की आखो पर पट्टी बाधे या मूदने को कहे। फिर निरोगी और सशयित त्वचा को उलट-पलटकर स्पर्श करें और रोगी को अगुली लगाकर बताने को कहे। अगर रोगी बताने में गलती करने लगे तो स्पर्श-सवेदना मे खराबी होगई है यह मानने में हर्ज नहीं है। कभी-कभी इस प्रकार बार-बार परीक्षा करनी पडती

है। रुग्णक के बिचले हिस्से और किनारे के हिस्से में स्पर्शज्ञान एक सरीखा है या नही यह देखना चाहिए। बहुत बार स्पर्शज्ञान तो होता है पर सुख-दु ख-सवेदना मे खराबी आगई रहती है। इसके लिए एक-से सिरेवाली दो आलपीनें लेकर ऊपर बताये अनुसार जाचें। शीत-उष्ण का भान है या नही इसकी जाच के लिए दो नलियो में अलग-अलग गरम और ठढा पानी लेकर ऊपर के ढग से जाचें। बहुत बार रोगी का जबानी जवाब विश्वसनीय नही होता। परीक्षक को अपने निर्णय को ही प्रमाण मानना चाहिए। छोटे बच्चो के बारे मे सही उत्तर मिलना सम्भव नही है। ऐसे मौको पर निर्णय को टाल देना चाहिए और बारबार देखना चाहिए। यह न भूले कि भौह के भाग में और सख्त त्वचा के अवयवो का स्पर्शज्ञान हमेशा ही कम होता है।

२ मज्जातंतु में सख्ती—एकाध बहुत कम ही कभी-कभी दिखाई देनेवाले ऐसे-वैसे रोगो को छोडकर कोढ के सिवा किसी रोग में मज्जाततु सख्त नही होते। इसलिए कोढ को पहचानने का यह उत्तम साधन है। पर दुर्भाग्यवश यह सख्ती पहचानना विशेषज्ञो के लिए भी बहुत बार मुश्किल होजाता है। शरीर में मज्जाततु के बटवारे का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर दीर्घ अनुभव से यह पहचान आ सकती है। सख्त होने की शका होने पर दोनो अगो के मज्जाततु की तुलना करनी चाहिए। दोनो सख्त हो तो उसी आकार के दूसरे मनुष्य के मज्जाततु से तुलना करनी चाहिए। इसके बिना निर्णय नही करना चाहिए। अनुभव के बिना ऐसे मौको पर निर्णय करना मुश्किल होता है।

३ सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा में कुष्ठजतु का मिलना—सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा करने का काम विशेषज्ञो का है। साधारण पाठको के लिए उस रीति के वर्णन की जरूरत नही है। पर यह परीक्षा कब करनी जरूरी

हैं कब नही, यह सबको जानना चाहिए। ऐसे ही किस प्रकार में वह साधारणत अस्तिपक्ष में होती है अथवा नही होती इसकी जानकारी रहना भी उपयोगी है। यह परीक्षा कोढ का निदान करने की अपेक्षा रोगी सासर्गिक है या नही इस निश्चय में अधिक उपयोगी है। निदान करने में हमेशा उसका उपयोग नही होता, और न जरूरत ही है। किसी रुग्णक में किस प्रमाण में साधारणत जतु पाये जाते है इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अपवादात्मक उदाहरण

कोढ के कुछ अपवादात्मक उदाहरण ऐसे पाये जाते है कि जिनमे ये मुख्य निर्णायक तीनो लक्षण नहीं होते या सशयग्रस्त होते है। छोटे बच्चो के बारे में ऐसा अनेक बार होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है। ऐसे प्रसगो पर विशेषज्ञ ही निर्णय कर सकते है। कुष्ठ-रोगी की सोहबत से उत्पन्न कुष्ठ में (ससृष्ट में) कुछ अधूरे लक्षण पाये जाय तो साधारण पाठको को चाहिए कि फौरन उसे उचित परीक्षा करा लेने को कहे, उसमें आलस्य न करें। समाज में से कोढ को नेस्तनाबूद करना हो तो जहातक सभव हो शीघ्र निदान होना चाहिए, तभी सफलता की आशा है। इसपर जितना जोर दिया जाय कम है।

भेदकारी चिकित्सा (डिफरेन्शियल डायग्नोसिस)

निर्णायक लक्षण तय करने के बाद कोढ सरीखे दिखाई देनेवाले दूसरे रोग कौन से है और उनमें क्या भेद है इसका विचार करना आवश्यक है। क्योकि दूसरे रोगो में भी ऐसे ही बाह्य लक्षण मिलने सभव है। उनका भेद समझ में आये बिना रोग-निर्णय नही हो सकता। उदाहरणार्थ, शेरणी रोग में त्वचा पर फीके सूक्ष्म दाग हो जाते है। पर उनमें स्पर्शज्ञान रहता है, पसीना आता है, बाल भी पाये जाते है। 'पीले कोढ' रोग

के वारे मे तो बहुत वार गलतिया होती है । इसकी वजह से उसका 'श्वेत कुष्ठ' यह गलत नाम पड गया है। पर कोढ के साथ उसका कोई भी सवध नही है। यह उपर्युक्त विवेचना के आधार पर भलीभाति परीक्षा करने पर सहज मे समझ मे आ सकता है। गजकर्ण के चकत्तो के वारे मे भी देहाती लोग वहुत वार गडवडघोटाला कर देते है। गर्मी के चकत्ते या घाव भी वहुत वार कोढ जैसे दिखाई देते है। पर उनमें कोढ के मुख्य लक्षण नही पाये जाते। कई वार जख्म या चोट के कारण किसी हिस्से का स्पर्शज्ञान जाता रहता है पर उसमें कोढ के दूसरे लक्षण नही होते है। केवल स्पर्शज्ञानशून्य त्वचा के कारण उसे कोढ कहना उचित नही है। दूसरे कारणो से लकवा होकर हाथ-पैर अथवा चेहरे के हिस्से कोढ जैसे दिखाई दे सकते है पर रोग का इतिहास सुनने पर या भलीभाति परीक्षा करने पर कोढ के दूसरे लक्षण नही मिलेगे। कुछ स्त्रियो के हाथ रसोई वनाते हुए जल जाने से कोढियो की पजाकृति सरीखे दीख पडते है, केवल इसी वजह से उसे कोढी कहना गलत बात है। वहुत वार कोढ के चकत्तों को छिपाने के लिए तेजाव अथवा दूसरे मासदाहक (कास्टिक) पदार्थ लगा देने से शक्ल वदली हुई दिखाई देती है। पर ऐसो में मज्जातंतु के लक्षण ज्यो-के-त्यो मिलेंगे। नपुसकत्व प्राप्त मनुष्य का चेहरा कुछ कोढी-सा दिखाई देता है। पर कोढ के मुख्य लक्षण उसमें नही होते। वहुत वार दो अथवा अधिक रोग एकत्र हो सकते है । उदाहरणार्थ, एक चकत्ता गजकर्ण का होता है और वाकी २-३ कुष्ठ के होते ह। इसलिए सारे शरीर की सपूर्ण परीक्षा करने मे कभी आनाकानी नही करनी चाहिए। रोगी का शरीर जहातक सभव हो नगा करने मे सकोच नही करना चाहिए। इसके विना उचित परीक्षा नही हो सकती। गुप्त

भागों की जानकारी पूछकर प्राप्त कर लेनी चाहिए। बगाल, आसाम की ओर पाया जानेवाला 'डर्मल लिश्मनियासिस्' नामक रोग हूबहू कोढ सरीखा दिखाई देता है। इसका सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा से फौरन निर्णय हो जायगा। सुरमा (सोरियासिस) भी एक ऐसा ही रोग है। इधर वह बहुत कम मिलता है। उसके चकत्तो पर रुपहली-सी सूक्ष्म पपडी होती है। ऐसे ही अनेक रोगो का विचार भेदकारी चिकित्सा की दृष्टि से करना जरूरी है। पर वह साधारण पाठको की मर्यादा के बाहर है। साधारणत दाग—चकत्ते, सवेदन में खराबी, कुष्ठग्रथि और व्यग्रता के बारे में समानता दिखाई देती है। मुख्य तीन लक्षणो की खोज करने से भेद समझ में आ जायगा, और रोग-निर्णय सुलभ हो जायगा।

सोलहवां प्रकरण

रोगियों का वर्गीकरण

सौम्य और कालकुष्ठ के नाते रोगियो के भी दो प्रकार होते है। जिस रोग में सब रुग्णक केवल मज्जातात्वीय कुष्ठ के होते है, उसे मज्जातात्वीय कहते हैं। एकाध रुग्णक भी कालकुष्ठीय स्वरूप के होने पर ऐसा रोगी 'कालकुष्ठीय' कहलाता है। ऐसे रोगी में फिर मज्जा-तात्वीय प्रकार के दूसरे कितने ही रुग्णक क्यो न हो इसकी परवाह नहीं की जाती।

वर्गीकरण करने में 'म' (मज्जातात्वीय) और 'क' (कालकुष्ठीय) इन सकेताक्षरो (सिंबल) का उपयोग किया जाता है। उसीके साथ रोग की बढती के प्रमाण की कल्पना देनी आवश्यक होती है। इसके लिए १, २, ३ इन अको का उपयोग करते है। अक १ एक छोटे-से स्थान-

वद्ध रुग्णक को वतलाता है, अक ३ सर्वत्र फैले हुए प्रगत रुग्णक वतलाता है और अक २ इन दोनो के वीच की हालत जाहिर करता है। इस प्रकार के वर्गीकरण का विलकुल सीधा-सादा प्रकार है $म_1$, $म_2$, $म_3$ और $क_1$, $क_2$, $क_3$।

रोग के स्वरूप की ज्यादा सूक्ष्म जानकारी के लिए इस सादे वर्गीकरण का विस्तार करना पडता है। इसकी दो पद्धतिया है। जिस रोगी में दोनो प्रकार के रुग्णक जिस प्रमाण में मिलते है उससे प्रकट करनेवाले अको के साथ इन दोनो सकेताक्षरो का उपयोग एकत्र करने की एक पद्धति है। उदाहरणार्थ, $क_2$ $म_2$ इससे मालूम हुआ कि रोगी में कालकुष्ठीय रुग्णक मध्यम प्रमाण में है और मज्जाततु के विकृत होने से पैदा हुई स्पर्शशून्यता मध्यम प्रमाण मे। उससे कुछ आरभिक व्यगता का वोध भी हो सकेगा।

अविक सूक्ष्म रीति से वर्गीकरण करने की दूसरी पद्धति है मुख्य प्रकार के सामने उसके उपप्रकार का पहला अक्षर लिखना। 'मडलीय' और 'स्पर्शशून्य' इसके अथवा 'सादे' और 'सूक्ष्म ग्रथिल'मडलीय उपप्रकार का वर्णन पहले किया जा चुका है। इसे दर्शाने के लिए $म_{म}$ $म_{स्प}$ व $म_{सू}$ चिन्हो का उपयोग करते है। उसके आगे प्रमाण दरसाने को १, २, ३ अक ऊपर वतलाये तरीके से रखते है। उदाहरणार्थ $म_{म_1}$ इससे मज्जातात्वीय प्रकार के दो-एक छोटे-से दागो के होने का पता चलता है। $म_{स्प_3}$ इससे रोगी के मज्जाततु का मुख्य स्तभ वडे प्रमाण में विकृत होगया है, दाग दिखाई न देकर त्वचा के वहुतेरे भाग पर स्पर्श-शून्यता है, वेधक व्रण पडने सरीखी पोषण विषयक खरावी भी होगई है, इत्यादि वातें दिखाई जाती है।

वर्गीकरण के संबंध में एक बात विशेष साफ करने की है। जिस रोगी में मज्जातात्वीय और कालकुष्ठीय दोनो रुग्णक मिले उसे कालकुष्ठीय वर्ग में ही डाला जायगा, चाहे कालकुष्ठीय रुग्णक एकाध ही हो और मज्जातात्वीय अनेक। साध्यासाध्य-विचार, उपचार और रोगप्रतिबंधक इलाज की दृष्टि से कालकुष्ठीय रुग्णक का पाया जाना अधिक ध्यान खीचनेवाली बात है। वर्गीकरण करते हुए उसे प्रमुखता मिलनी चाहिए। उदाहरण के लिए क$_2$ म$_3$ लिखना चाहिए, म$_3$ क$_2$ लिखना ठीक नही है। संक्षेप में कोढ का नीचे लिखे अनुसार वर्गीकरण होगा —
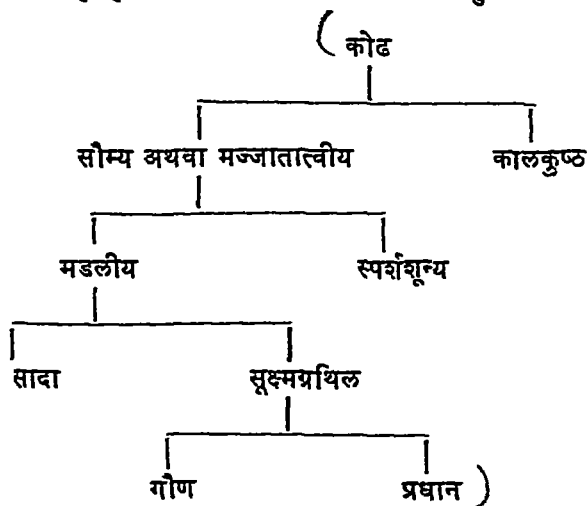
कोढ के हमेशा मिलनेवाले उदाहरणो के वर्गीकरण में कोई कठिनाई नही होती। बहुत बार भिन्न तरह के उदाहरण मिलते है, तब उनका वर्गीकरण आसान नही रहता। कुछ सौम्यकुष्ठ के और कुछ कालकुष्ठ के अधूरे लक्षण किसी किसी रोगी में एकत्र मिलते है। उसमें संवेदना के बदले हुए स्थानबद्ध दाग और सख्त मज्जातंतु मिलेंगे, पर उसीके साथ

अस्पष्ट उभार होगा और सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा में थोडे कुष्ठजतु दिखाई देंगे। ऐसे उदाहरण अकसर पाये जाते है। ऐसे रोगियो में कुछ ज्यादा दिनो तक मज्जातात्वीय प्रकार में रहने के वाद जाच के समय कालकुष्ठ मे जाने की तैयारी मे होते है। कुछ सिर्फ मज्जातात्वीय प्रकार के होते है। ऐसे मौको पर एक ही वार की परीक्षा से उनका यथार्थ वर्गीकरण करना असम्भव होगा। ऐसे में नियमित समय पर वारवार परीक्षा और दीर्घ अवलोकन करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण प्रकट-रोग लक्षण की दृष्टि से किया गया है। पर कानूनी या समाज-नियम की दृष्टि मे रोगी सासर्गिक है वा नही इसके लिए दूसरी तरह के वर्गीकरण की जरूरत होती है। सूक्ष्मदर्शक परीक्षा से इसका निर्णय होता है। रोगी की त्वचा अथवा श्लेष्मल त्वचा की परीक्षा में कुष्ठजतु पाये जाने पर वह रोगी सासर्गिक समझा जाता है, न पाये जाने पर उसे 'असासर्गिक' मानते है। कालकुष्ठ के सभी रोगी सासर्गिक होते है। मज्जातात्वीय (सौम्य) कुष्ठ के वहुसख्यक रोगी असासर्गिक होते है। सौम्यकुष्ठ के थोडे अपवादात्मक उदाहरणो में चकत्तो में वा नाक की श्लेष्मल त्वचा में कुष्ठजतु कभी-कभी मिलते है। सूक्ष्मदर्शक के एक क्षेत्र में पाये जाने वाले कुष्ठजतुओ की सख्या के हिसाव से सकेताक्षरो के आगे—,+, ++, +++ चिन्हो द्वारा सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा का निर्णय वतलाया जाता है। हाथ-पैर के पोरुए टेढे होगये है, व्रण है और कुछ जतु पाये जाते है, यह म, + से मालूम होगा।

उपर्युक्त वर्गीकरण-पद्धति साधारण उपयोग के लायक है। रोग का प्रकार, लक्षणो का स्वरूप और तीव्रता दिखाने को वह काफी है। खास कुष्ठवेत्ताओ के उपयोग के लिए अधिक सूक्ष्म और गुत्थियोवाली

निराली पद्धति का रवाज है । रोगी की रोग-स्थिति जाहिर करने के लिए शरीराकृति के चार्ट रखे जाते है, उसमें सपूर्ण और व्यवस्थित वर्णन रहता है । हर छठवें महीने नया चार्ट तैयार कर लेने से लक्षणो मे होनेवाले परिवर्तन और चढाव-उतार का ठीक अन्दाजा हो जाता है । उसकी तैयारी दवाखाने के क्षेत्र की बात है । तथापि तैयार किये हुए चार्ट से रोग-स्थिति की कल्पना थोडे-से अभ्यास से साधारण पाठक को भी हो सकती है ।

पेशीजाल सबधी कुष्ठजतु पर होनेवाली प्रतिक्रिया विभिन्न रोगियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । इस प्रतिक्रिया का भेद वर्गीकरण करते हुए ध्यान में रखना चाहिए । वास्तव में इस भेद पर ही वर्गीकरण निर्भर है । ससर्ग का प्रसार पेशी मे ससर्ग भिनने का प्रमाण, त्वचा और मज्जातंतु की विकृति का स्वरूप और व्याप्ति यह सब प्रतिकार-शक्ति पर अवलम्बित रहता है । वर्गीकरण-पद्धति में नया परिवर्तन करते हुए रोगी की प्रतिकार-शक्ति का अदाजा लगाने का प्रयत्न करना चाहिए । तब वह अधिक नयुक्तिक होगी ।

सतरहवां प्रकरण

कुष्ठजंतु का प्रतिकार

रुग्णक की जाच होजाने, रोग-निर्णय होजाने और वर्ग तय होजाने पर औपधोपचार का विचार करने के पहले इसका अन्दाज कर लेना चाहिए कि रोगी की प्रतिकार-शक्ति किस दर्जे की है । यदि वह क्षीण हो तो उसके कारण का भी विचार होना चाहिए । उसकी

ठीक-ठीक कल्पना हुए विना औपधोपचार समाधानकारक नही हो-सकता । क्योकि औपधोपचार का मुख्य उद्देश्य है रोगी का साधारण आरोग्य सुधारना और उसके द्वारा रोगप्रतिकार-क्षमता को बढाना। अगर रोगी का साधारण आरोग्य खराव और रोग-प्रतिकार-शक्ति निर्वल है तो कोढ की सूइया देना वगैरह खास उपचार करते रहने से हित की अपेक्षा अहित ही होने की सभावना अधिक रहती है।

प्रतिकार-क्षमता का नियमन करनेवाले मुख्य कारण

उत्तम अथवा क्षीण प्रतिकार का रुग्णको पर कैसा नतीजा होता है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। क्षीण प्रतिकार के मुख्यत तीन कारण है—(१)-कोमल वयस, (२)-अशक्तता और (३)-शरीर मे कुष्ठजतुओ का वेहद वढना। इसके विपरीत कुष्ठजतुओ का थोडा-सा ससर्ग होने पर उसके प्रतिकार करने की शरीर की शक्ति वढ जाती है, यह वात स्मरण रखने योग्य है।

छोटे वच्चो को इस रोग के ससर्ग का डर अधिक-से अधिक है। यह वात पहले से मालूम हो चुकी है। कुष्ठी के सहवास में रहनेवाले वच्चो में सैकडे ४०-५० को रोग लगा पाया जाता है। वही प्रौढावस्था में सैकडे ४-५ को होता है। लेप्रालिन्[1] परीक्षा के आधार मे भी यही वात प्रकट होती है। वालक की एक साल की अवस्था में सवसे ज्यादा डर रहता है।

---

१ लेप्रालिन परीक्षा—मरे हुए कुष्ठजतुओ को वहुत महीन पीस-कर उनकी वुकनी कर ली जाती है। उसे नमक के घोल (सोल्यूशन) में मिलाते है। उसमें थोडा कारवोनिक एसिड डालते हैं। यह तैयार किया हुआ द्रव्य सूई से त्वचा में देते है। त्वचा के नीचे नहीं जाने देते। सूई देने के लिए केहुनी का ऊपरी हिस्सा पसन्द करते हैं। जिनमें अच्छी प्रतिकार शक्ति होती हैं उनके इस सूई वाली जगह पर एक गाठ निकल

रोगी की प्रतिकारक्षमता का अदाज लगाना

यह अदाज लगाने के लिए रोगी की जाच करते हुए नीचे लिखे हुए विषय ध्यान में रखने चाहिए —

१—रोग का काल, (यह उसके इतिहास से मालूम हो जाता है)। रोग बढ़ने अथवा कम होने की गति का प्रमाण। (रुग्णक बहुत बार अनेक वर्षों तक सुप्त रहते है, अथवा अचानक एकबारगी विलक्षण गति से बढने लगते है। रोगी की प्रतिकार-शक्ति में परिवर्तन होने पर ऐसा होना सम्भव है।)

२—रुग्णको की सख्या, आकार और प्रकार (सौम्यकुण्ठ मे उत्तम प्रतिकार होता है, कालकुष्ठ में कमजोर होता है।)

३—रोगी का सामान्य आरोग्य, शरीर कमजोर करने वाले सहचारी रोग, आहार की योग्यता और प्रमाण, सामाजिक परिस्थिति और आदतें, व्यायाम, शरीरिक परिश्रम, विशेषकर रोगी की मानसिक स्थिति (इसमें आकलन शक्ति, निरोग होने का इच्छाबल, बराबर बिना घबराये दीर्घ और त्रासदायक उपचार लिये जाने की मन की तैयारी का भी इस बात में विचार करना चाहिए।)

४—लेप्रालिन परीक्षा प्रतिकार शक्ति की जाच के लिए उपयोगी है। उससे पेशी की प्रतिक्रिया और इस तरह प्रतिकार क्षमता का पता चल जाता है।

५—सेडिमेंटेशन परीक्षा[१] करना भी उपयोगी है। साधारणत रोगी की

---

१. सेडिमेटेशन परीक्षा—एक पिचकारी में ० ३ घ. सें सोडियम्-सिट्रेट का घोल लेते है। उसीमें रोगी की अशुद्ध रक्तवाहिनी में से (नीले में से) १ २ घ सें रक्त खींच लेते है। फिर वह एकत्र मिलाकर एक पिपेट (काच की सूक्ष्म नली) में भर लेते है। इस पिपेट के ऊपर

अस्वस्थता बढ़ने लगने और प्रतिकारशक्ति कम होने लगने पर सेडिमें-टेशन दर्शांक (इन्डेक्स) बढ़ने लगता है।

अनुभव, आग्रह और समय हुए बिना प्रतिकारशक्ति का अन्दाज एकदम नहीं लगाया जा सकता। उपचार शुरू करने के पहले या उपचार चालू रहते बीच-बीच में इसका विचार करना चाहिए। उपचार कितनी मात्रा में (डोज में) देना, लगातार बढ़ाना अथवा कब बन्द रखना यह तै करने में भी इसका उपयोग होता है।

से नीचे तक १०० भाग किये हुए होते हैं। ऊपर के भाग में ० निशान बना रहता है। नीचे से ० इस निशान तक रक्त मिश्रित द्रव्य लेने से यह १ घ सें भरता है। इस पिपेट को एक रबर के स्टैंड में खड़ा कर देते हैं। १॥ घण्टे में उसे देखने पर रक्त के गोलक अलग होकर नीचे तह में कचरा जमा हुआ दिखाई देता है। ऊपर का हिस्सा पानी के समान रंग रहित रहता है। फिर एक घंटे भर उस पिपेट को वैसे ही रखकर देखने से लाल कचरे का भाग नीचे खिसका हुआ दिखाई देता है। दोनों बार के नली पर के अंक मिलाकर उसका अनुपात निकालते हैं, इसे सेडिमेंटेशन दर्शांक (इन्डेक्स) कहते हैं। इस परीक्षा से प्रतिकार शक्ति घटी है कि सुधरी है, इसका पता चलता है। निरोगी मनुष्य में सेडिमेंटेशन दर्शांक (से. द) १० के नीचे रहता है। रोगियों में यह ८० तक बढ़ा हुआ पाया गया है। रोगी का यह से द बीच-बीच में देखते रहने से उसकी प्रतिकारशक्ति के उतार-चढ़ाव का अन्दाज होता रहता है। उसके हिसाब से औषधोपचार में अदल-बदल किया जा सकता है। डाक्टर के लिए यह परीक्षा मार्ग-दर्शक होती है। पर इसी पर सारा दार-मदार नहीं रखना चाहिए।

अठारहवां प्रकरण

कोढ़ का उपचार

उपचार की दिशा

उपचार की दिशा दिखाने के पहले एक बात साफ कर देना आवश्यक है। प्रत्येक रोगी की स्थिति का स्वतन्त्र व्यवस्थित परीक्षण करना चाहिए और प्रत्येक की ओर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए, तभी उपचार मे अधिक सफलता की आशा हो सकती है। उत्कृष्ट उपचार में दो बातें शामिल है (१) रोगी का साधारण आरोग्य सुधारना और प्रतिकार-शक्ति का प्रमाण वढाना, (२) साधारण आरोग्य को गिरने न देकर जो खास (स्पेशल) उपचार प्राप्त हो वह जितना वढाया जा सके उतना वढाना। साधारण (जनरल) उपचार में जिन बातो से साधारण आरोग्य सुधरता है उन सब बातो का समावेश होता है। सहचारी रोग का दुरुस्त करना भी उसीमे हैं। कुष्ठ-प्रतिक्रिया सरीखे प्रसग में खास उपचार बन्द करके रोगी को आराम देना और प्रतिक्रिया को ठढा होने देना शामिल है। खास उपचार में रोग-ससर्ग को मिटाने के लिए चालमुग्रा या हिड्नोकार्पस सरीखे खास द्रव्यो का उपयोग किया जाता है।

साधारण उपचार का महत्व भलीभाति नही समझा जाता है। उस पर जितना ज्यादा जोर दिया जा सके देना चाहिए। हम एक आरम्भिक काल के रोगी को जानते है, जैसे ही उसे अपने रोग का पता चला उसने अपने खेत में झोपडी डालकर रहना शुरू किया। शुद्ध हवा में रहना, खेत पर मेहनत करना, जो मिले वह ताजा भोजन करना, इसे उसने अपना नियम बना लिया। किसी काम के लिए घर नही जाता था। सिर्फ

अम्र घर ने मगाना था। दो बरस बाद उनका रोग बिना किसी दवा के अच्छा हो चला। वह थोड़ी नीम की पत्तियां खाता था। इनके सिवा उनने कोई दवा नहीं ली थी। इस उदाहरण में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उत्तम प्रतिकार हो और रोग आरंभिक दशा में हो तो सिर्फ साधारण उपचार से भी रोग की रोक-थाम संभव है। दूसरो के लिए भी ऐसा सुधार संभव है। साधारण उपचार को खेत की जुताई कह सकते हैं। खास उपचार ऊपर से बरसनेवाली वर्षा है। जुताई न की गई तो बरसात बेकार है, यह सब किसान जानते हैं। इस बात से साधारण उपचार का महत्त्व ध्यान में आजाना चाहिए। नार्वे ने १७० आदमियो के अमेरिका की बस्ती में भेजने का जिक्र पहले आचुका है। उस उदाहरण से भी साधारण उपचार का महत्त्व समझ में आ जायगा।

पर साधारण उपचार और खास उपचार में व्यर्थ भेद करने की जरूरत नहीं है। दोनो एक साथ चल सकते है। दोनो की उचित मात्रा और सामजस्य रखने में सफलता की कुजी है। यह जान रखना चाहिए कि दोनो एक दूसरे के पूरक हैं किसी भी खास उपचार का परिणाम प्रतिकार-शक्ति को पहले तात्कालिक कुछ कम करना होता है।

सामान्य उपचार

कोढ का उपचार शुरू करने में एक नियम पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरा कोई भी रोग साथ हो तो पहले उसे सभालना चाहिए। इसके बिना कोढ का इलाज शुरू न करें। उपचार शुरू करने पर बीच में दूसरा रोग पैदा हो जाय तो पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। यथासभव इस नियम का पालन होना चाहिए। इस बात की बहुत बार परवा नहीं की जाती। इसके कारण खास उपचार का वास्तविक परिणाम सामने नही आता। जड़ैया, अतिसार, हृद्रवत, मवाद आना,

कृमि रोग, सूजाक, गर्मी ये रोग हिंदुस्तान मे कोढ के साथ प्राय. मिलते है। अशक्त और वारवार प्रतिक्रिया होनेवाले रोगियो का खास उपचार शुरू करना अहितकर है। इसके लिए अनेक महीने और वहुत वार कई वरस वाट देखनी पडती है। ऐसे रोगी पूरी मेहनत लेते है।

क्षय-रोगियो की भाति कोढियो को भी समशीतोष्ण जलवायु अनुकूल पडता है, विशेष नम नही। पसीना निकलने की क्रिया में गडवड होने पर और त्वचा मे दूसरे विकार उत्पन्न होने पर शरीर की उष्णता का नियमन करने का कार्य व्यवस्थितरीत्या नही होता। इसलिए वहुत गर्म और वहुत ठढे जलवायु मे शरीर पर विशेष जोर पडता है। वह प्रतिकूल होता है। उष्ण प्रदेश में जाडा शुरू होते ही रोगियो मे सुधार नजर आने लगता है। इसी वजह से ठढी जगह जाने पर भी यही परिणाम होता है।

सामान्य उपचार मे आहार का विशेष महत्त्व है। वह रोगी के अनुकूल, युक्त, हलका लेकिन पोषक होना चाहिए। काडलिवर आयल, थाइरायड, कुछ जीवनसत्त्व (विटैमिन्स) अथवा थोडा सौम्य हाइड्रोक्लोरिक अम्ल इत्यादि खास कारणो से डाक्टर देते है। पर भोजन मे वहुत ज्यादा और वारवार फेर-फार न करके नियमितता रखनी चाहिए। वहुत चढाव-उतार और अचानक फेरफार लाभदायक नही होता।

रोगी की दिनचर्या का विचार भी महत्त्व की चीज है। वहुत जोर न पडने देकर शरीर और मन को वरावर काम मे लगाये रखना चाहिए। समय पर योग्य और पूरा विश्राम लेना चाहिए। रोग के लिए फिक्र करने की आदत छोड देनी चाहिए।

अनुकूल और खुली हवा में नियमित व्यायाम उत्तम आहार के समान ही जरूरी है। उसमें अति न करे, पर धीरे-धीरे वढावे। स्नायु जितने

मजबूत होंगे उतना ही लाभ उपचार का अधिक परिणाम होगा, उसी हिसाब से सुधार भी अधिक होगा। रोगी को आहार, व्यायाम और नियमित कार्यक्रम के बारे में सैनिकों के नियम-पालन की भाति नियम पालना चाहिए। विशिष्ट प्रकार के व्यायाम अथवा आसन नियमित रूप से करने से हित होता है।

रोगी को सेडिमेन्टेशन परीक्षा का फल और अपना वजन बीच-बीच में देखते रहना चाहिए। इसके घटने-बढने का मतलब समझना चाहिए। इसके कारण की भी छानबीन करनी चाहिए। तापमान भी नोट कर लेना चाहिए। दूसरे कारण से शक्ति में परिवर्तन हुआ दीख पड़े तो उसका भी विचार करना चाहिए।

रोगी को विषय-सग से दूर रहना चाहिए, उससे शक्ति क्षीण होती है। परन्तु उसके छोडने से मानसिक स्थिति न बिगडने देने का भी ध्यान रखना चाहिए।

अतिम लेकिन महत्त्व की बात है कि रोगी का मन सदा प्रसन्न और उत्साही रहना चाहिए। बीसवें प्रकरण में इसका सविस्तर विवेचन मिलेगा। सामान्य उपचार व्यवस्थित लिया जा रहा है या नहीं, यह बताने के लिए प्रसन्न मन एक कसौटी की भाति है। बुद्धिपूर्वक और स्वेच्छा से रोगी डाक्टर को सहयोग देता है तभी सफलता की आशा रहती है। सामान्य उपचार का सार इसी सहकार्य में है। कोढ के सबध में रोगी को अधिक-से-अधिक जितना ज्ञान मिल सके मिलना हितकर है।

खास उपचार

अनुभव की कसौटी पर कसी हुई कोढियो के लिए इस समय अधिक-से-अधिक खास उपचार मे काम में लाई जानेवाली दो दवाइया

है, हिडनोकार्पस[1] अथवा चालमुग्रा तेल। यह सूई मे इजेक्शन के रूप में खाल में देते है, स्नायु में भी सूई दी जाने में हर्ज नही है। शिरा में (नील अथवा अशुद्ध रक्तवाहिनी में) नही दिया जा सकता। इसी के साथ इन दिनो एक खास सूई के द्वारा सिर्फ त्वचा में देते है। सूई इतनी छोटी होती है कि त्वचा के नीचे नही पहुचती। इन त्वचा में की छोटी सूइयो का स्पर्शशून्य चकत्तो पर अच्छा और तात्कालिक परिणाम जान पडता है। ये दोनो प्रकार की सूइया (सूचिकाभरण, इजेक्शन्स) साथ ही ली जाती है। रोगी की विशिष्ट परिस्थिति के अनुकल ऐसी अधिक-से-अधिक मात्रा हफ्ते में एक वार लेने का रिवाज अधिक है। पर थोडी मात्रा में दो वार लेने की अपेक्षा अच्छा है कि अधिक-से-अधिक मात्रा एक वार मे ही ले ली जाय। त्वचा की छोटी सूई स्पर्शशून्य चकत्तो के अलावा दूसरी जगह लेने में भी हर्ज नही है। रोगी को थोडी-सी तकलीफ तो होती है। पर रोगी लेने को उत्सुक हो तो कही भी दी जा सकती है। कोढ की गाठ पर उसका खासा असर होता है। गाठ दवने लगती है।

वाह्य उपचार मे रोगी के लिए कुष्ठविकृत त्वचा पर चालमुग्रा तेल की मालिश करना और उसपर सूर्य-किरणो का सेवन लाभदायक है। मोटी, ऊवड-खावड अथवा विकृत दीखनेवाली त्वचा और कुष्ठग्रथि को साफ कर देने के लिए ट्रायक्लोअर असेटिक् अम्ल लगाते है। उसका उचित मात्रा में समझकर उपयोग करना चाहिए। वह जहरीला होता है।

नाक में अनेक रोगियो को सडान की तकलीफ होती है। उन्हें दिन में एक-दो वार 'इ सी सी ओ', का फाहा लगाना चाहिए। वदवू आवे

---

१. इस नाम का एक जगली पेड़ है। उसके फलों के बीज से यह तेल निकलता है। मद्रास, आसाम, ब्रह्मदेश, श्याम, ब्राजिल वगैरा में पाया जाता है।

तो 'क्रोमिक अम्ल' का फाहा अच्छा है। घाव हो तो धोकर बोरिक मरहम लगानी चाहिए।

कोढियो के सहवास में रहनेवालो को हाथ वगैरा धोने के लिए 'लायसोल' का घोल उपयोग करना चाहिए। फर्श और लकडी का सामान वगैरा अधिक तीक्ष्ण घोल से धोना चाहिए। लायसोल विषैला पदार्थ है, मुह में जाने से बचाना चाहिए।

उपचार सबधी उपर्युक्त जानकारी साधारण पाठको को अथवा रोगियो को होनी जरूरी है। उपचार की पद्धति, द्रव्य, समय, मात्रा का प्रमाण इत्यादि तज्ञ डाक्टरो को मालूम रहता है। यहा उसके ब्यौरे में उतरने की जरूरत नही जान पडती। मज्जातंतु की खराबी, विशिष्ट अवयवो के रुग्णक और कुष्ठ-प्रतिक्रिया के उपचार का ब्यौरा साधारण पाठको की मर्यादा के बाहर की चीज है। पीछे वर्णन की हुई प्रत्येक विकृति का उपचार की दृष्टि से विचार होता है, पर यहा उसकी जरूरत नही है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के बारे में सिर्फ एक सूचना दे देना आवश्यक है। उस समय नित्य का खास उपचार, सूइया बन्द रखनी पडती हैं, पूरा आराम लेना पडता है। बहुत बार बिना किसी उपचार के केवल आराम लेने से ही वह अपने आप दब जाती है। लक्षणो के बढने से डरकर रोगी अधिकाधिक उपचार लेने का विशेष आग्रह करता है। उसका नतीजा खराब होता है। जानकारो की सलाह मिलनी सभव हो तो लेनी चाहिए। आवश्यकता जान पडने पर वह उपचार करेगा। यो, रोगी का कोठा साफ रखना चाहिए, खान-पान हलका लेना चाहिए पूरा आराम लेना चाहिए। उस वक्त उपचार करने की परेशानी मे बिलकुल नही पडना चाहिए।

कोढ रोग में खानेवाली कोई दवा नही है। कुछ रोगियो को

किसी पीने की दवा के विना तसल्ली नही होती। उनकी यह खाम-खयाली दूर करनी चाहिए। शक्ति-वृद्धि के लिए पौष्टिक (टानिक्स) लेने में हर्ज नही है। सिर्फ जिन पौष्टिको से शरीर मे वहुत जलन वढती हो वे वर्जित है। उनसे लाभ के बदले हानि होती है।

शक्ति घटने न देना और शरीर मे दाह न वढने देना ही मुख्य पथ्य है। फिर से कोढ रोगी का सहवास न होने देना भी उतना ही जरूरी है। अन्यथा उपचार का वास्तविक परिणाम नही हो पाता।

योग्य समय पर उपचार शुरू हो जाने से कोढ असाध्य नही है। उपचार के वारे में एक वडी कठिनाई है उसको वहुत दिनो तक चलाने की जरूरत की है। फौरन ही कोई जादू का-सा असर होने की उम्मीद नही की जासकती। लगन से किये जाने पर उपचार अवश्य हितकारक साबित होता है। रोगी को यह नही भूलना चाहिए कि विज्ञापनी दवाइयो के फेर मे पडकर ऊटपटाग उपचार की अपेक्षा केवल साधारण उपचार चालू रखना अधिक श्रेयस्कर है।

उपचार का काल और परिणाम

कोढ का उपचार-काल वहुत लम्वा होता है। आधुनिक सुधारो के कारण उसकी अवधि वहुत कुछ घट गई है। फिर भी जिन रोगियो में रोग पूरी तरह भिन गया है, उन्हे ३ से ५ वर्ष तक भी इलाज जारी रखना पडता है। आरभिक रोग में तो कुछ महीनो के वाद ही अच्छा सुधार सभव है। आमतौर से १०० सूई लेने की जरूरत हो-सकती है। जितनी जल्दी इलाज शुरू होगा उतना ही अधिक फायदा होगा और इलाज में दिन भी कम लगेंगे। यह अच्छे लक्षण है। इधर आरभिक अवस्था में यथासभव शीघ्र इलाज कराने के लिए रोगी अग्रसर होने लगे है। रोग का प्रकार, रोग शुरू होने के वाद वीता हुआ

समय और रोगी की प्रतिकार-शक्ति के अनुसार उपचार कम-ज्यादा दिनो लेना पडता है।

विशिष्ट उदाहरणो मे उपचार कितने दिनो लेते रहना चाहिए यह जानने के लिए रुग्णको की तीन दशाए जाननी चाहिए। (१) जागृत अथवा क्रियाशील रुग्णक, (२) सुप्त अथवा अक्रियाशील रुग्णक और (३) निरुद्ध अथवा ठढे पडे रुग्णक। इनके भेद पर ध्यान देने की जरूरत है।

क्रियाशीलता के लक्षण निम्नलिखित कहे जा सकते है :—

१—रुग्णको के आकार और तादाद मे घट-बढ होना।

२—रुग्णको पर सुर्खी और मोटाई आना।

३—मज्जाततु मोटे हो या न हो, उनमे मुलायमियत होना

४—त्वचा या श्लेष्मल त्वचा मे कुष्ठजतु का मिलना।

जबतक ये लक्षण पाये जाय तबतक उसे जागृत रुग्णक समझना चाहिए। जब लगातार ६ महीनो तक इन चारो में से कोई भी लक्षण दिखाई न दे तब उस रुग्णक को 'सुप्त' समझना चाहिए। 'सुप्त' रुग्णक जब उसी हालत में दो साल तक रह जाय तब उन्हे निरुद्ध अथवा 'ठढे पड गये' कहते है। कोढ में रोगी 'निरुद्ध' (अरेस्टेड) होगया इतना ही अधिक-से-अधिक कहा जायगा, 'रोगमुक्त' (क्योर्ड) शब्द का इस्तेमाल नही किया जायगा। कारण, शरीर में रोग-ससर्ग का जरा भी लवलेश नही रह गया, यह जानने का कोई साधन प्राप्त नही है।

जबतक रोग क्रियाशील है तबतक इलाज जारी रखना चाहिए। सुप्त अवस्था में चले जाने पर भी आगे छ महीने तक जारी रखना चाहिए। उसके बाद इलाज बद करके रोगी को निरीक्षण में रखा जाना चाहिए। हर तीसरे महीने उसकी परीक्षा होनी चाहिए। कारण,

रोग के वापस लौटने की सभावना रहती है। शका पैदा होते ही इलाज शुरू कर देना चाहिए । ठढा पडने पर सौम्यकुष्ठ के रोगी को एक वर्ष तक निरीक्षण मे रखना चाहिए। कालकुष्ठ के रोगियो को सात वर्ष तक रखते है। ठढा पडने के वाद भी साधारण तन्दुरुस्ती गिरने पर प्राय रोग सिर उठाने लगता है। इससे मालूम होता है कि खास उपचार वद करने के वाद भी साधारण उपचार चालू रखना कितना जरूरी है।

साधारणत देखा जाता है कि वाहर रहकर उपचार लेने की अपेक्षा रुग्णालय में रहने पर रोगी को अधिक अथवा शीघ्र फायदा होता है। इसलिए घर रहनेवाले रोगियो को भी उचित है कि जहा तक सभव हो रुग्णालयो की दिनचर्या के हिसाव से आहार-विहार रखने का आग्रह रखे।

उन्नीसवां प्रकरण

साध्यासाध्य-विचार

रोगी कोढ की वलि तो शायद ही चढते है। उसकी वजह से पैदा होने वाली दूसरी गुत्थियो अथवा दुर्लक्ष के कारण ही वह प्राय मरता है। कोढ वैसा घातक या तडफड जान लेने वाला रोग नही है। उसकी सौम्य रोगो में ही गिनती है। इसकी साधारण पाठको को ही नहीं, वैद्य-डाक्टरो को भी खवर नही होती। थोडो को ही इसका पता होता है कि किसी खास इलाज के विना भी शुरु के रोगी अच्छे किये जा सकते है। समाज में इसके वारे में जो डर फैला हुआ है वह रोग के कारण

पैदा होनेवाली व्यग्रता, कुरूपता और समाज म होनेवाले तिरस्कार के कारण है। यद्यपि यह रोग स्पर्शजन्य है तथापि इसकी स्पर्श-जन्यता भी ऐसे ही सौम्यरूप की है। इस वजह से इसका साध्यासाध्य-विचार (प्राग्नासिस) शायद दूसरे रोगो की अपेक्षा अधिक महत्त्व की चीज होगी।

इस साध्यासाध्य-विचार के दो अग है। (१) उनके सम्बन्ध मे विचार। जो ससर्ग में आये हुए है (ससृष्ट), पर अभी सिर्फ रोग-लक्षण जाहिर नही हुए है, ऐसे उदाहरणो में रोग प्रकट होने की कितनी सभावना है, इसका मुख्य रूप मे विचार करना पडता है। (२) उन रोगियो के सबध में विचार कि जिनमें रोग-लक्षण प्रकट हो गये है। रोग दुरुस्त होने की कितनी सभावना है। दुरुस्त होने में कितना समय लगेगा ? रोग फिर से शुरू होने की सभावना रहेगी क्या ? दुरुस्ती हो गई तो भी व्यग्रता रहेगी या नही ? इन प्रश्नो का विचार नम्बर दो में आता है।

इन् दोनो अगो का विचार करने की दिशा एक ही है। उपर्युक्त प्रश्नो का उत्तर देते समय छ बातो को लक्ष्य में रखने की जरूरत है—(१) उम्र, (२) रोग का प्रकार, (३) वश, (४) रोग का समय और उसके चढाव-उतार की गति, (५) रोग-प्रतिकार-शक्ति, (६) साधारण शरीर प्रकृति अथवा आरोग्य।

(१) छोटी उम्र में सुधार होने की सभावना प्रौढो की अपेक्षा कम होती है। छोटे बच्चो को सौम्यकुष्ठ के चकत्ते होने पर उसमें सुधार होना सुलभ नहीं है। उलटे अधिक विकृत स्वरूप धारण करने की सभावना रहती है।

(२) कालकुष्ठ की अपेक्षा सौम्यकुष्ठ में सुधार होने की

सभावना अधिक है । प्रौढो में सौम्यकुष्ठ होने पर सुधार की विशेष आशा रखने में हर्ज नही है। कालकुष्ठ के आरभ के उदाहरण में भी आशा कम ही रखनी चाहिए । सौम्यकुष्ठ में भी सूक्ष्मग्रथिल प्रकार मे सुधार की अधिक सभावना रहती है। मज्जाततु में विशेष ससर्ग न पहुचे हुए सादे मडलो के कालकुष्ठ में बदल जाने की अधिक सभवना रहती है । इसलिए उसका सुधार अपेक्षाकृत दुष्कर होता है।

(३) भिन्न-भिन्न वर्गो में (जाति-सघो में) कमोवेश उग्र रूप धारण करने की प्रवृत्ति मे भिन्नता पाई जाती है । इस सबध में अभी तक कोई पक्की बात नही मिली है। यूरोपियन अथवा ऐंग्लोइडियनो की अपेक्षा भारतीयो में रोग साधारणत सौम्यरूपी पाया जाता है । भारतीयो की रोग-प्रतिकार-शक्ति भी ऊचे दर्जे की होती है। चीनी और जापानियो में भी वह हिदुस्तानवालो की अपेक्षा साधारणत ज्यादा जोर पकडता है। हिंदुस्तानियो की अपेक्षा बर्मियो मे वह अधिक उग्ररूप धारण करता पाया जाता है ।

(४) थोडे दिनो के रुग्णक शीघ्र सुधर जाते है। अधिक दिन हो जाने पर ज्यादा वक्त लगता है। स्थिर रुग्णक मे आशा की अधिक गुजाइश है। जिसमें चढाव-उतार और वह भी अचानक या तीव्रगति से होता है उनमें उस हिसाब मे सुधार देरतलब होता है। ऐसे उदाहरणो में सुधार हो जाने पर भी फिर रोग होने का डर अधिक रहता है ।

(५) रोग-प्रतिकार-शक्ति के सबध में १७ वे प्रकरण में विवेचन होचुका है। इस विषय का निर्णय करने मे लेप्रालिन परीक्षा यथेष्ट उपयोगी है ।

(६) दुर्बल काठी वाले रोगियो से मजबूत दोहरे बदन वालो के सुधार की सभावना अधिक है। गाव की सादी रहन-सहन और खाली

हवा में परिश्रम के कारण निकृष्ट आहार होने पर भी उनकी प्रतिकार-शक्ति अच्छी रहती है। मजबूत स्नायुवाला रोगी औषधि की अधिक मात्रा आसानी से पचा सकता है।

रोगी की दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि हाथ पैरो पर या चेहरे पर व्यग्रता आवेगी या नहीं। बिलकुल आरंभिक अवस्था में उपचार शुरू हो जाने और फिर व्यवस्थित रूप से जारी रहने से व्यग्रता आने की संभावना कम रहती है। इस संबंध में विशिष्ट प्रकार के व्यायाम का विशेष महत्त्व है। जिनके स्नायु अच्छे बने हुए हैं और जो नित्य व्यायाम करते रहते हैं ऐसों को हाथ-पैरो की पंगुता की विकृति शायद ही होती है। बहुत बढ़ी हुई हालत के उदाहरणो में कुछ स्पर्शशून्यता और सूक्ष्म स्नायु में होनेवाली पोषण संबंधी विकृति सहसा दूर नहीं होती, वह स्थायी होती है। पर उसे रोग के जागृत लक्षणो में गिनने की जरूरत नहीं है। उसे पूर्वरोग का अवशेष समझना चाहिए।

बीसवां प्रकरण

कोढ़ी की मनःस्थिति

'कोढी' शब्द एक तरह की गाली ही है। बहुतेरे देशों में, खासकर उसे जो इस रोग के पजे में फस जाते हैं उन्हें लोग गालियां देते हैं और उनसे नफरत करते हैं। लोगो का खयाल है कि कोढी मनुष्य दुष्ट और पापी न होता तो भगवान ने उसे इतनी बडी सजा क्यो दी होती। समाज कोढियो को धिक्कार-दृष्टि से निहारता है। कोढी के मन पर इसकी प्रतिक्रिया (असर) हुए बिना नही रहती। यह प्रतिक्रिया ही कोढी की नाजुक और कमजोर मन स्थिति का कारण होती है।

किसी मौके पर रोगी से थोडी सहानुभूति दरसाने के सिवा अज्ञान या आलस्य के कारण उसे सब जगह हिलने-मिलने देने के अतिरिक्त और साधारणत उसे लोग परे-परे ही रखते है, पास नही फटकने देते। समाज मे उसके बारे में इस तरह की मनोभावना पैदा होने के कारणो पर विचार करना उपयुक्त जान पडता है। कोढ रोग की अति सार्सगिकता के (बहुत छुतहेपन के) कारण ऐसी भावना पैदा होती हो सो बात नही है। इग्लैड मे कोढ लक्ष्य देने योग्य (नोटिफाएबल) रोग नही माना जाता, बल्कि क्षय के ससर्ग फैलानेवाले रोगियो पर विशेपतया ध्यान रखा जाता है। कोढ की अपेक्षा क्षय निस्सदेह बहुत ही अधिक सार्सगिक रोग है। फिर भी समाज को क्षय से कोढ जितना डर नही लगता।

फिर इस डर लगने का कारण क्या है ? कारण है, कोढ से शक्ल बिगड जाना, मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यक्त करनेवाले अवयव हाथ और चेहरे मे खराबी आ जाना जिनकी बीमारी भयकरता को पहुची हुई होती है उनमें कुछ की ओर तो ताका तक नही जाता। बीमार होने पर भी वह कभी खाट नही पकडता। गावभर में भटकता रहता है। यह रोग तडफड मे ले लेने वाला, घातक नही होता। पता नही इसे गुण समझा जाय या दोप। इसकी वजह से रोग की मीयाद लबी,—बहुत लबी होती है। रोगी जीने से ऊब जाता है, पर रोग की उससे उल्टी दोस्ती बढती दिखाई देती है। उसपर कोढ का आक्रमण हुआ है या सिर्फ बाधा, यह समझ मे न आने पर भी वह कोढी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। अधे, बहरे, गूगे या पागलो का जैसे एक वर्ग बन जाता है वैसे ही इनका भी एक स्वतत्र वर्ग हो जाता है। अतर इतना ही होता है कि बहरे-गूगो की अपेक्षा इनसे ही नही इनके नाम से भी लोगो को डर लगता है। कोढियो में ऐसी विकृत अवस्था मे थोडे ही पहुचते है, पर

साधारण समाज में प्रमाण या प्रकार का तारतम्य नही है। उसे कोढी-मात्र से नफरत होती है। यह एक वार की घर की हुई भावना ज्यो-की-त्यो जारी रहती है।

समाज की ऐसी वृत्ति का रोगी की मन स्थिति पर स्थायी परिणाम होता है। पहले तो वह रोग को छिपाता है। जरा भी निशान किसी को दिखाई न पड जाये, इस डर से वेचारे का मन सशकित रहता है। इसके कारण निरतर का मानसिक आरोग्य और प्रसन्नता जाती रहती है। आगे चलकर जैसे-जैसे रोग जाहिर होने लगता है और समाज मे उसे तिरस्कार और वहिष्कार सहना पडता है, वैसे-वैसे उसके मन में हीनता की भावना वढने लगती है। इसी समय कही अगर उसका काम-घधा छूट गया और उसे दूसरे की दया या भीख पर निर्वाह करना पडा तो उसके स्वाभिमान की भावना को भारी चोट पहुचती है। पूरा स्वाभिमानशून्य न होने पर भी हताश तो हो ही जाता है। रोगी जितना सुशिक्षित और कुलीन होता है उसे उतनी ही अधिक मानसिक व्यथा होती है।

यह सिद्धात है कि मानसिक स्थिति कमजोर होते जाने देने से शारीरिक स्थिति भी कमजोर होती जाती है। उसकी वजह से रोगी की रोग-प्रतिकार-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उसका रोग वढता है, और रोग छिपाने का उपाय नहीं रह जाता। वह अगर जल्दी ही जाहिर होगया तो वहिष्कार अधिक प्रमाण में प्रकट होने लगता है। इस प्रकार अनर्थ परपरा का चक्र चालू होजाता है। मनुष्य जहा हताश हुआ, भविष्य की आशा न रही, जग से और व्यवहार से प्रत्यक्ष वचित हुआ वा होने का डर ही मन में पैठा कि मन और साथ ही शरीर भी छीजना शुरू हो जाता

है। कुछ दिनो वह वेकार रहता है और फिर काम करने मे असमर्थ भी हो जाता है। स्वत हताश, समाज के लिए निरुपयोगी जीवन खुद के और समाज के दोनो के लिए भारभूत हो जाता है। जीता है पर आशा और स्वाभिमान मर जाता है। यह मरण से भी वदतर मरण है।

रोगी की मन स्थिति के ये विचार अतिशयोक्तिपूर्ण नही है। कुष्ठ-निवास के रोगियो की, मानसिक रोगदृष्टि से जाच करने पर यह भली-भाति प्रकट हो जाता है। ऐसे रोगियो में सैकडे २० से २५ रोगी किसी-न-किसी मानसिक विगाड से पीडित पाये जाते है।

इसके सिवा कोढ में एक और खास वात है। अपेंडिसाइटिस सरीखे रोग का सुधरना शस्त्रक्रिया करनेवाले डाक्टर की होशियारी पर निर्भर करता है, विषमज्वर में शुश्रूषा करनेवाले पर, और कोढ स्वत रोगी पर निर्भर करता है। डाक्टर और दूसरे हितचिंतक कितनी ही मदद क्यो न करें, रोगी की दिनचर्या और प्रयत्न ही उसे रोगमुक्त कर सकते है। कोढ के ससर्ग से पेशियो की प्रतिकार-शक्ति जव घटती है तव घटती है, पर रोगी का मनोवल और प्रयत्न करने की प्रेरणा तो पहले ही घट जाती है। इसलिए प्रयत्न करके वह सुधरता नही, यही नही वल्कि वह प्रयत्न के लिए तैयार भी नही होता। जैसे नदी में पडा मनुष्य डर जाता है तो वजाय इसके कि किनारा पकडे अधिक गोते खाने लगता है, वैसे ही भयभीत और हताश हुआ रोगी गडवडाने लगता है। समाज के तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से वह अधिक हतवुद्धि होजाता है। प्रत्यक्ष रोग से जो शारीरिक वेदना होती है उसकी अपेक्षा समाज के इस तिरस्कारयुक्त व्यवहार से उसका दु'ख दुस्सह हो जाता है। शरीर से वलवान दिखाई देने पर भी मन से वह दुर्वल हो जाता है।

इसलिए ऐसे रोगियो को 'अभागा' अथवा 'करुणा-पात्र' कहने के

बजाय उनसे सहानुभूति और सहृदयता का व्यवहार होना चाहिए। मनुष्यता और भूतदया के नाते ही नही वल्कि रोगी की प्रतिकार-क्षमता को प्रोत्साहन देने के विचार से भी ऐसा व्यवहार करना दूसरो के लिए फर्ज हो जाता है। ऐसे रोगियो की स्थिति सुधारने के लिए क्या समाज उनसे विवेकयुक्त प्रेमपूर्ण वर्ताव नहीं कर सकता ?

इक्कीसवां प्रकरण

कोढ़ का प्रतिबंध

प्रतिवध के मूलतत्त्व

कोढ सार्सगिक (छूत का) रोग है। सार्सगिक रोगी के स्पर्श से वह निरोगी व्यक्ति को लग जाता हैं। वच्चो कों इस प्रकार से रोग-ससर्ग होने का वडा डर रहता है।

दूसरे सार्सगिक रोगो में जिन तत्त्वो के आधार पर प्रतिवधात्मक उपाय किये जाते हैं उन्हीका अवलवन कोढ में भी किया जाता है। नीचे लिखे उपाय अमल में लाये जाते हैं—

१—सार्सगिक रोगियो से दूसरो का सहवास वचाने के लिए उन्हे अलग रखना।

२—रोगियो को असार्सगिक वनाने के लिए उनका इलाज करना।

३—समाज के सव व्यक्तियो को अथवा सहवास मे जानेवाले (ससृष्ट) व्यक्तियो को कृत्रिम उपायो से रोग-निर्भय (इम्युनाइज) करना।

४—ससर्ग लगने न देने के लिए सामाजिक और आरोग्य-विषयक परिस्थिति में सुधार करना।

५—लोकमत तैयार करने और प्रतिबंधात्मक उपायो में लोगो के स्वेच्छा से हाथ बटाने के लिए प्रचार द्वारा समाज में रोग के सबंध मे जानकारी फैलाना।

अन्य रोगो में उपयोग में आनेवाले ये सब उपाय दुर्भाग्यवश कोढ के सबंध में अमल में नहीं लाये जाते। अभीतक कोई ऐसा परिणाम-कारी इलाज हाथ नही लगा है कि जिससे सासर्गिक रोगी बहुत शीघ्र असासर्गिक हो जाय। इस वजह से कोढ के प्रतिबंध में उपचार का प्रत्यक्ष उपयोग नही है। उसी प्रकार टीका (इनाक्युलेशन) इत्यादि के द्वारा कोढ मे दूसरो को रोग-निर्भय भी नही किया जा सकता है।

तब अलगाव (सेग्रेगेशन), आरोग्य-विषयक-सुधार और लोक-शिक्षण द्वारा प्रचार यही तीन उपाय बच रहते है। प्रत्यक्ष प्रतिबंध के लिए उपचार का उपयोग यत्किंचित ही होने पर भी उपर्युक्त तीनो उपायो को लोकप्रिय बनाने में उसकी अप्रत्यक्षरूप से खासी सहायता मिलती है।

सासर्गिक रोगियो को अलग करने के लिए समाज में के सारे रोगियो की लिस्ट बनानी पडती है। विशेषज्ञ से प्रत्येक रोगी की जाच कराने की जरूरत होती है, उनमे से सासर्गिक और असासर्गिक को छाटना पडता है। समाज से सासर्गिक रोगी का अलग करना आसान नही है। वैसे ही समाज मे सासर्गिक रोगी कितने है और कौन-कौन है यह तय करना भी सहज नही है।

सार्वजनिक आरोग्य के सुधार का सवाल समाज की आर्थिक, सामा-जिक और राजनीतिक परिस्थिति के साथ गुथा हुआ है। इसके लिए एक तरह से समाज की सर्वांगीण उन्नति होने की जरूरत है।

लोकशिक्षक और आरोग्य-दूतो (हेल्थविजिटर) की स्वेच्छा से सहायता मिले तो प्रचार का प्रश्न कठिन नहीं है।

दूसरे देशों मे कोढ का प्रतिबंध

जहा रोगियो की सख्या एक हद के अन्दर है और आवश्यक आर्थिक सहायता मिलने में अडचन नहीं है उन देशो मे आमतौर से अनिवार्य रूप से उन्हें अलग करने पर जोर दिया जाता है। यह अलगाव साधारणत कुष्ठनिवास सरीखी सस्थाओ के मार्फत होता है। कुछ देशो मे अनुकूल परिस्थिति मिलने पर घर के घर में ही अलगाव किया गया है। एशिया और अफ्रीका के कुछ देशो मे कुष्ठग्राम बसाने की पूर्वापर प्रथा दिखाई देती है।

इन अलगाव का नतीजा अलग-अलग हुआ है। जहा लोकमत अच्छा अनुकूल मिला जैसे नार्वे में, वहा अलगाव मे अच्छी कामयाबी हुई है। जहा लोकमत का जोर नही रहा वहा यथासभव कायदे को टालने की प्रवृत्ति रही है। सासर्गिक रोगियो को अलग करना मानवदया का कार्य है यह न समझकर रोगियो के रोग छिपाने मे दूसरे लोग उलटे मदद करने लगे। ऐसे देशो में यह प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ। जापान, फिलिपाइन्स सरीखे कुछ देशो में बीच के दर्जे की कामयाबी रही।

इधर अलगाव पहले से अधिक लोकप्रिय होने लगा है। एक बार अलग किये गये कि फिर समाज में वापस लौटने की उम्मीद गई, यह धारणा बदल रही है। आधुनिक उपचार से बहुतेरे रोगियो को समाज में वापस लौटने की आशा होने लगी है। इन दिनो के कुष्ठनिवास पहले जैसे कैदखाने नही रह गये है। वे यथासभव रमणीय, हवादार स्थानो में बसाई बस्ती जैसे है। दूसरी वजह है, उन देशो में पति-पत्नी

को जवरदस्ती से अलग नही करते। जन्मते ही बच्चे को अलग करके उसके सवर्धन का प्रवध किया जाता है। जापान सरीखे कुछ देशो मे सतति न होने देने के लिए पुरुप पर एक प्रकार की शस्त्रक्रिया करते है और उसके वाद उन्हे एकत्र रहने देते है। पहला उपाय वडे खर्च और जोखिम का है, दूसरे के सर्वत्र लागू होने मे सामाजिक अडचने है।

दूसरे देशो की आरोग्य विपयक सुधार और शैक्षणिक प्रचार इन दोनो उपायो की पद्धति के सवध मे विचार करने की यहा आवश्यकता नही है।

हिंदुस्तान मे प्रतिवंध

हिंदुस्तान में इस सवव मे तीन विचारो के लोग मिलते है। कुछ पूरे निराशावादी दिखाई देते है। उनका कहना है, कोढ का प्रश्न वडा विकट है। उसको रोकने के साधन अपने यहा वहुत ही अल्प है। समाज अत्यत दरिद्रावस्था मे है। सामाजिक और आरोग्य विपयक परिस्थिति वहुत निकृष्ट है। आज की इस परिस्थिति में प्रयत्न करना फजूल है, इसमे कुछ होने-जाने को नही है। कुछ वडे आशावादी है। आधुनिक उपचार मे कुछ थोडे से सुधारो की ओर देख कर यह प्रतिपादन करते है कि देश मे सव जगह उपचार-केंद्र खोल देने चाहिए, रोग दूर हो जायगा। तीसरे है जो दोनो सिरो को छोडकर मर्यादा समझकर प्रयत्न करनेवाले है। यह प्रश्न कितना विशाल और कठिन है, इसका उन्हे पूरा ज्ञान है। वे जानते है कि प्रतिवध मे उपचार का उपयोग नही के वरावर है। छोटे वच्चो को सासर्गिक रोगियो से अलग किये विना इस रोग की रोक-थाम नही हो सकती, यह वे अच्छी तरह जानते है। पचीस-पचास वरस मे भी वे कोई आश्चर्यकारक परिणाम दिखाने की उम्मीद नही करते। हा, उनका यह विश्वास है कि

योग्य दिशा में कार्य करते रहने से उसमें समाज का स्थायी कल्याण है, और रोग को वश में लाने मे कदम आगे पड़ेंगे । इसके लिए हिंदुस्तान में जगह-जगह निम्नलिखित उपायो पर अमल करना चाहिए

(१) प्रचार

साधारण जनता में इस विषय का सही-सही ज्ञान फैलाना चाहिए। इसके बिना इस काम में विवेकपूर्ण लोकमत का बल पाने की आशा नहीं है। आज तो इस संबंध में लोकमत उदासीन है। किसी एकाध वर्ग को ही नहीं सारे समाज को मिलकर इस प्रश्न के संबंध मे जागृत होना चाहिए । इनके बिना रोग की रोक में कामयाबी नही हो सकती।

(२) कार्यकर्ताओ की शिक्षा

इस विषय के जानकार डॉक्टर, परिचारक और आरोग्यदूतो की तादाद बढानी चाहिए। इसके लिए उनकी तालीम का प्रबंध करना चाहिए।

(३) अलगाव की कोशिश

कुष्ठनिवास सरीखी संस्थाओ के द्वारा अलगाव आदर्शरूप से हो-सकता है । आज हिंदुस्तान में जो ऐसी ५०-५५ संस्थाए है उनमे १०,०००रोगी अलग करने का सुभीता है। हिंदुस्तान मे १५ से २०लाख कोढी होने की कल्पना है। अगर उनमें सैंकडे २० सासर्गिक माने जाय तो उनकी संख्या ३ लाख से ऊपर जायगी। इतनो के लिए ऐसी संस्था स्थापित होना असंभव-सा दिखाई देता है। तथापि प्रत्येक रोगग्रस्त भाग में ऐसी एक संस्था तो जरूर होनी चाहिए। उसमें रोगियो की परीक्षा, उपचार, अलगाव और कार्यकर्ताओ के शिक्षण इत्यादि की सुविधा होनी

चाहिए। आज ऐसी सस्थाए हो चाहे कम पर उनमे अलगाये हुए सब रोगी सासर्गिक ही नही है। अपाहिज विद्रूप रोगी, (बर्न्ट आऊट केसेस) सासर्गिक न होने पर भी उन सस्थाओ मे भरती कर लिये गये है। भूतदया की दृष्टि से ऐसे अपाहिजो का भी सुभीता करना जरूरी है तथापि ऐसी सस्थाओ मे केवल सासर्गिक रोगियो का रखना आरोग्य-दृष्टि से अधिक अच्छा है। यह अनुभव से देखा गया है कि इस सस्था का विकास शहर के अस्पतालो के ढग पर करने के बजाय देहात में गावो के ढग पर करना अधिक उपयोगी होगा।

ऐसी सस्थाए ज्यादा नही कायम की जा सकती और घर में अलग रहने का प्रश्न हिंदुस्तान की आज की परिस्थिति मे व्यावहारिक नही है। गावो के लिए तो अलगाव का ही एक मार्ग बच जाता है। शायद कुछ गावो का एक गुट बनाकर उनकी ओर से कोई कुष्ठग्राम बसाना अधिक सुविधाजनक हो सकता है। पर अपने-अपने यहा की परिस्थिति के अनुसार व्यावहारिक मार्ग वहा के पास-पडोस की जनता को ही तय करना होगा। इसका प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। यह काम सरकार का है, यह समझकर समाज का निश्चिन्त रहना उचित नही है। पर समाज उदासीन है इसलिए कुछ करना सभव नही है, यह कह देने भर से सरकार की छुट्टी नही हो सकती। ऐसी बस्तियो में केवल सासर्गिक रोगियो को ही अलग करना चाहिए। गाव में आज जैसा उनका उदर-निर्वाह होता है वहा भी कम-से-कम उतना होना चाहिए। इसका खयाल रखना चाहिए कि उन्हे भीख पर गुजारा न करना पडे। स्त्रियो और पुरुषो के निवास अलग-अलग होने चाहिए। निरोगी आदमियो के लिए वहा रहने की मनाई होनी चाहिए। वहा के नियम और स्वच्छता पर उचित देखरेख होनी चाहिए।

(४) उपचार-केंद्र (क्लिनिक ट्रीटमेंट सेंटर)

कोढ को रोकने मे कुष्ठनिवास अथवा अस्पताल के बाद ही उपचार-केंद्रो का नबर है। निस्संदेह उनकी बहुत जरूरत है। वे कुष्ठ-निवास की पूर्वतैयारी के रूप में होते है और पूरकरूप भी। सब अनासर्गिक रोगियो और थोडे आरभिक सासर्गिक रोगियो के लिए उनका अच्छा उपयोग होता है। उनके द्वारा रोग-निर्णय, उपचार और प्रतिबंध ये तीनो प्रकार के काम हो सकते है। हिंदुस्तान में रोगियो में से ७५ प्रतिशत उपचार-केंद्रो में ही जाते है। हिंदुस्तान में ऐसे उपचार-केंद्रो की सख्या आज लगभग १००० है। हफ्ते में एक बार सूई लगाना भर ही उनका काम नही होना चाहिए। आदर्श केंद्रो में प्रत्येक रोगी के घर की और उनके सब कुटुबवालो की हर छठे महीने जाच होनी चाहिए। कोढ-विषयक ज्ञान समाज में फैलाने की तो वह शाला ही हो। कुष्ठनिवासो में रोगी भेजने का काम वास्तव मे उन्ही के द्वारा होना चाहिए। समाज में से ऐसे रोगियो को जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना इन केंद्रो के कामो में एक मुख्य काम है। कुष्ठनिवास और उपचार-केंद्र का चोली-दामन का सा साथ है। हिंदुस्तान में केवल कुष्ठनिवासो द्वारा अथवा केवल उपचार-केंद्रो द्वारा कोढ का प्रश्न हल होना सभव नहीं है। दोनो का उचित समन्वय और सहकार होना चाहिए। इन दोनो में किसकी जरूरत ज्यादा है, यह विषय कभी विवादास्पद था पर आज तो दोनो की मर्यादा और महत्त्व सामने आगये है। जैसे मनुष्य के दोनो हाथ समान भाव से उपयोगी है वैसे ही ये दोनो भी है। एक के अभाव में दूसरा पगु रहेगा। हिंदुस्तान में कुष्ठनिवास और उपचार केंद्र भिन्न-भिन्न प्रबधो के आधीन है, इसकी वजह से परस्पर का सबध गाढ होने में अडचन पडती है। होना तो चाहिए दोनो का

पूर्ण सहकार, तभी समाज के लिए दोनो वास्तविक रूप से उपयोगी होगे ।

यहा कुष्ठनिवास अथवा उपचार-केंद्रो की रचना और कार्य-पद्धति देने की आवश्यकता नही है। पाठको को आसपास में कही ऐसी सस्था हो तो जरूर देखने का लाभ लेना चाहिए ।

(५) ऐच्छिक बनाम जबरदस्ती

कितनो का सुझाव है कि सौम्यकुष्ठ के रोगियो का जबरदस्ती इलाज और कालकुष्ठ के रोगियो का जबरदस्ती अलगाव करना चाहिए । ऐच्छिक उपचार और अलगाव से जितनी कामयाबी होने की उम्मीद है उतनी जोर-जबरदस्ती से नही। जबरदस्ती का उपाय काम मे लाने के लिए जिस उच्च कोटि के लोकमत की आवश्यकता है वह परिस्थिति हिंदुस्तान मे अभी देर से आनेवाली है । जापान, फिलीपाइन्स सरीखे देशो में जबरदस्ती के सख्त कानून बनाये गये, पर बाद को उन्हें बदलना या ढीला करना पडा । उनसे हमें सबक लेना चाहिए। जबरदस्ती के उपाय में रोगी अपने ऊपर जुल्म मानकर असतुष्ट रहता है। डाक्टर के साथ सहकार नही करता। पद-पद पर नियम-भग की कोशिश करता है। यह सही है कि ऐच्छिक पद्धति में भी सारे रोगी अपनी खुशी से अग्रसर नही होते। पर जो आते है उनकी उपचार पर अथवा अलगाव पर श्रद्धा होती है। वे खुशी से अपना फायदा समझकर नियम पालते है। सस्था मे आने देने के लिए उपकार मानते है। इसके सिवा स्वेच्छा से नियम-पालन में जो नैतिक आनन्द है वह निराला ही है, जबरदस्ती के उपाय में लुकाव-छिपाव बहुत रहता है। इसलिए सब सासर्गिक रोगियो को जबर्दस्ती अलगाना मुश्किल है। लोकमत पीछे हुए बिना कितना ही कडा कानून बना दिया जाय तो भी उसका

वास्तविक परिणाम नही होता। उसका जितने भाग में पालन होता है उससे ज्यादा भाग में वह भग किया जाता है। देखा गया है कि बडी दिक्कतो के बाद लुक-छिप करनेवाले रोगियो को तलाशा भी गया तो उतने ही समय में वह बहुतो को ससर्ग का शिकार बना चुके होते हैं। इसकी वजह से कानून की असली मशा जहा-की-तहा ही रह जाती है। इस सबध में आजतक के अनुभव के आधार पर विशेषज्ञो ने यह मत कायम किया है कि लोकमत और शिक्षण द्वारा अलगाव करने पर जोर देना अच्छा है। जबरदस्ती के उपाय बिलकुल छोटे देश में अथवा द्वीप में व्यावहारिक सिद्ध होसकते हैं, किसी विशाल देश में नही।

(६) जाच (सर्वे)

प्रत्येक रोगग्रस्त हिस्से की व्यवस्थित जाच होनी चाहिए। (१) रोगमान और (२) वहा रोग-प्रसार के विशिष्ट कारणो की निश्चित कल्पना हो जानी चाहिए।

यह जाच तीन प्रकार की होती है। रोगग्रस्त हिस्से में बीच-बीच में कुछ गाव लेकर नमूने के लिए जाच की जाती है (सैंपल सर्वे)। उससे सारे हिस्से की साधारण कल्पना हो जाती है। दूसरी जाच (कसेन्ट्रेटेड-सर्वे) में प्रत्येक रोगी जाचा जाता है। उसके लिए कार्यकर्ताओ का दल चाहिए और वक्त भी काफी चाहिए। तीसरी तरह की जाच खास मौको पर मुख्य रूप से सशोधन या अध्ययन के लिए की जाती है। ऐसी जाच में किसी खास भाग के प्रत्येक व्यक्ति की सपूर्ण शास्त्रीय रीति से परीक्षा की जाती है। उन हिस्सो का कई वर्ष बराबर अवलोकन और फिर-फिर जाच चालू रहती है। ऐसी जाच विशेष मौको पर ही सभव होती है (एपिडिमिआलोजिकल सर्वे)

(७) प्रचार

प्रचार जाच के साथ ही सुलभता से हो सकता है। प्रचार को उपयुक्त और आकर्षक बनाने के लिए उन-उन गावो के प्रत्यक्ष उदाहरणो द्वारा प्रचार करना उत्तम होता है। उसमें तात्त्विक विवेचन पर जोर देने की जरूरत नही है। चित्र अथवा चित्रपटो की मदद मिल जाय तो लेनी चाहिए। जो रोगी अच्छे हो गये है वे अच्छे प्रचारक बन सकते है। सीधी स्थानीय लोकभापा मे ही प्रचार करना चाहिए।

(८) प्रतिबधक कार्य के लिए सगठन।

उपर्युक्त कार्यों का सघटन प्रातिक सरकार या स्थानीय डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्यूनिमिपलिटियो की ओर मे खास तौर से हो सकता है। इसके सिवा दूसरे देशो का और हिंदुस्तान का भी यह तजरबा है कि सार्वजनिक लोकहितैपी सस्थाए ऐसे कामो में अनमोल सहायता कर सकती है। इतना ही नही, उनके द्वारा जो लोकमत का सहारा मिलता है वह मिले बिना ऐसे कामो मे तरक्की नही होती। सरकारी सस्थाओ के सिवा ऐसी सार्वजनिक मस्थाओ के कायम होनें की जरूरत है। उनमे जो लगन और सेवा की भावना होती है वह सरकारी सस्थाओ मे नही मिल सकती। हा यह अवश्य होता है कि सरकारी सस्थाओ के पास अधिकार और पैसे का जो जोर रहता है उससे वे रहित होती है। थोडे क्षेत्र मे अच्छा काम सार्वजनिक सस्थाओ से ज्यादा सध सकता है। व्यापक क्षेत्र में सरकार का ही हाथ लगाना ठीक है।

बाईसवां प्रकरण

कोढ़ और गांव

जैसे क्षय शहरों—उद्योग-केंद्रों में पाया जानेवाला रोग है, वैसे ही कोढ खास कर देहातों मे पाया जाता है। जैसे शरीर के सर्वव्यापी अवयव त्वचा और मज्जातंतु मे यह फैलता है वैसे ही देशव्यापी गावो मे उसका फैलाव है। संस्कृति की विशिष्ट अवस्था और रहन-सहन के साधारण सुधार के परिणाम पर यह निर्भर करता है, इसलिए प्रत्येक गाव का सुधार हुए बिना इसकी जड जाना कठिन है। इससे कोढ का प्रश्न गावो के सामाजिक, आर्थिक और आरोग्य संबंधी प्रश्नो के साथ बेतरह जुड़ा हुआ है।

देश से यदि इसे निकाल भगाना है तो हर गाव को इस समस्या के हल करने का काम गाव मे ही शुरू करना चाहिए, तभी इस की रोक-थाम संभव है। कोढ का किला कहिए, गढ कहिए, गाव है। वहीं उसकी जड खोदनी चाहिए।

गावो में कोढ के बारे मे कितनी ही मूर्खतापूर्ण रूढिया फैली हुई है। 'छूत की क्या बात है जी, किस्मत में लिखा था हो गया' यह बराबर सुना जाता है। व्यभिचार से अपना रोग दूसरे के पल्ले बध जाता है और खुद को मुक्ति मिल जाती है, यह माननेवाले भी पाये जाते है। उन्हे इसका भेद नहीं मालूम रहता कि सांसर्गिक रोगियो से अधिक डरना चाहिए या अपग और शक्ल बिगडे हुए लोगो से? छोटे बच्चो को रोगियो के पास खेलने को छोडकर बाहर काम के लिए जाते उन्हे कोई दुविधा नही होती। कोढी के वंश मे औरो के साथ शादी-विवाह होते रहने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

यह नहीं है कि बहुतो को रोगो के वास्तविक रूप की कल्पना नहीं होती। किसी गरीब आदमी के बारे में सिर्फ कठोरता से ही नही क्रूरता से भी काम लिया जाता है। परन्तु कोई रोगी धनी हुआ या प्रतिष्ठित तो आवश्यक नियम पालन करने की उनकी हिम्मत नही पडती। और खुद का जो नाते-रिश्तेदार हुआ तब तो किसी नियम का पालन करीब-करीब असभव ही है। सार्सगिक रोगी के स्वतत्रता से कुटुब में या समाज में हिलने-मिलने से अनेको को उसका ससर्ग-दोष पहुच सकता है, इसका उन्हें खयाल नही रहता। पत्नी रोगिणी हुई तो आमतौर मे उसे छोड ही दिया जाता है, और बाल-बच्चे सब उसी के साथ जाते है और रोग के शिकार होते है। पति रोगी हुआ तो कुटुब में खुल्लम-खुल्ला सब व्यवहार चलाता है। भला कुटुब के मुखिया से कहने की हिम्मत किसकी होगी कि भाई तुम अलग जा रहो। गावो में सारे गाव का एक ही नाई और धोबी होता है। उसके खास धधे की वजह से गाव मे रोग हुआ तो उसे लगने का खटका रहता है और फिर उससे सारे गाव में फैलने का डर रहता है। कुछ जगह इन्हें खुराक देने का रवाज होता है जिससे रोग फैलने की ज्यादा गुजाइश रहती है।

ससर्ग के दो हिस्से किये जा सकते है (१) कुटुब में बढनेवाला और (२) गाव में दूसरो मे फैलनेवाला। पहले प्रकार का ससर्ग अलग किये बिना टलना कठिन है और वह कुटुब के व्यक्ति पर निर्भर है। दूसरे प्रकार का ससर्ग न बढने देने का हर जाति और गाव चाहे तो अच्छी तरह प्रयत्न कर सकता है। 'जो गाव कर सकता है वह राव (राजा) नही कर सकता' यह कहावत और मामलो में इतनी सही शायद न ठहरे जितनी इस मामले में। रोकथाम के तत्त्वो का विवेचन पिछले प्रकरणो में किया जाचुका है। उसका पूरा-पूरा अमल होना

(३) शुश्रूषा और दाई का काम।

(४) नाई धोबी का काम।

(५) कुली का काम।

(६) गली-गली भीख मागते फिरने का काम।

(७) सभा, तीर्थ या कही दावत खाने जाने का काम।

६—कोढियो का और दूसरो का परस्पर व्याह-शादी रोकना।

७—कोढी को सतान होना इष्ट नही है। यदि हो जाय तो बच्चे को निरोगी रिश्तेदारो के यहा पालना चाहिए।

८—रोग को छिपाने की प्रवृत्ति को जहा तक सभव हो दूर करना चाहिए। इसके लिए रोगियो से तिरस्कार और हीनता का व्यवहार नहीं होना चाहिए। समाज में सहानुभूति और सहायता की भावना पैदा करनी चाहिए।

९—जहा सभव हो वहा पुरानी कोढ़ी-गाव बसाने की पद्धति को उत्तेजन देना चाहिए। ४-५ गाव मिलकर एक ऐसी बस्ती बसा सकते है।

१०—जो रोगी उपचार ले रहे है उन्हें 'सामान्य उपचार' शीर्षक में जैसा बतलाया गया है उसके अनुसार चलाना। इस सबध के पत्र पत्रिकाओ का लोगो में प्रचार करना।

प्रकरण २३ वां

कोढ़ संबंधी कुछ उल्लेखनीय संस्थाए

दि इंटरनेशनल लेप्रसी कांग्रेस

दुनिया में कोढ के संबंध में अधिकार पूर्वक शास्त्रीय निर्णय करनेवाली यह अकेली संस्था है। संसार के भिन्न भिन्न देशो में साधारणतः हर पांचवें साल सब देशो के प्रतिनिधि कुष्ठवेत्ता (लेप्रालाजिस्ट) इकट्ठे होते है, उस समय तक की शोधो और अनुभवों की चर्चा करते है, उत्तमोत्तम निबंध पढे जाते है और अंत में प्रस्ताव रूप से कार्यकर्ताओ की स्वीकृति के लिए निर्णीत मत प्रकट किया जाता है। १९३१ में मनिला (फिलिपाइन) में कांग्रेस हुई थी। उसके बाद १९३८ में काहरा (इजिप्ट) में ५ वां अधिवेशन हुआ। उसमें ५० देशो से लगभग २०० कुष्ठ रोग के जानकार जमा हुए थे। इस कांग्रेस के अब तक ५ अधिवेशन हुए है। इसकी ओर से 'दि इंटरनेशनल जर्नल आफ लेप्रसी' नामक त्रैमासिक पत्र निकलता है। इस संस्था के निर्माण में 'अमेरिकन लेप्रसी फाउंडेशन' से विशेष सहायता मिली है।

दि मिशन टु लेपर्स

संसार के अनेक देशो में अनेक वर्षों से निष्ठा और सेवा-भाव से कोढियो के लिए बराबर काम करनेवाली 'दि मिशन टु लेपर्स' नामक संस्था है। १८७४ में डब्लू. सी. बेली ने इसकी स्थापना की थी। बेली उस वक्त अम्बाला (पंजाब) में थे और अपनी फुर्सत का वक्त कोढ़ियो के प्रश्न के विचार में लगाते थे। उनके पत्र से माकस्टाउन (डब्लिन) की तीन कुमारिकाओ ने उन्हें हर साल ४५० रुपये इकट्ठा करके इस काम में खर्च करने को भेजने का निश्चय किया। उनकी कोशिशो का नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अंत में बजाय ४५०)

के ७५००) से ऊपर रकम जमा हुई। दूसरे साल वह १२०००) से भी बढ गयी। खुद बेली को इतने रुपयो की जरूरत न थी, इसलिए उन्होने इस काम के करनेवाले हिन्दुस्तान मे जो दूसरे मिशनरी थे उन्हे सहायता देने का निश्चय किया। इस प्रकार कार्य का आरम्भ होकर इस जगद्व्यापी सस्था की नीव पडी। आज मिशन की सालाना आमदनी १४ करोड से अधिक है। इस सस्था का आरम्भ जैसे हिंदुस्तान में हुआ वैसे इसकी प्रधान शाखा भी हिंदुस्तान में ही है। इसके सिवा चीन, जापान, कोरिया, फारमोसा, श्याम, अफ्रीका, अमेरिका और दूसरी जगहो में भी शाखाए है। हिंदुस्तान में मिशन के ३७ कोढीखाने है। इनके सिवा ऐसे ही दूसरे १५ कोढीखानो को वह सहायता देता है। इनमें लगभग १०००० रोगियो के रहने, खाने-पीने और दवा-पानी का बदोवस्त है। रोगियो के ८०० निरोग बच्चो को अलग करके स्वतत्र निवास में रखने की व्यवस्था की गयी है। इसके सिवा बाहरी ६००० रोगी मिशन के दवाखानो से दवा पाते है।

मिशन के तीन उद्देश्य है—(१) रोगियो और उनके बच्चो की आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना, (२) उनके भौतिक दुख दूर करना, (३) अपनी ताकत भर कोढ को नेस्तनाबूद करने में मदद करना। इसके सिवा रोगियो की प्राथमिक शिक्षा, उद्योग-धधे, खेल-कूद मनोरंजन वगैरा की व्यवस्था की जाती है। इन सस्थाओ में आम तौर से ईसाई ही अधिक है और उन्हीका वायुमण्डल है। उनके नियमो में यह भी है कि धार्मिक मामले में किसी प्रकार की सख्ती न की जाय। आज हिंदुस्तान के बहुतेरे कोढीखाने मिशनरियो के इतजाम में ही है, दूसरो के तो अगुलियो पर गिनने भर को है। हिंदुस्तान में इस काम मे फिलहाल हर साल मिशन ८ लाख रुपये से ऊपर खर्च

करता है। उनमें से आधी रकम सरकार से सहायता-स्वरूप, एक तिहाई दूसरे देशो से सहायता और वाकी भारतीय जनता से मिलती है। आरम्भ से अव तक इस काम में मिशन ने १५ करोड रुपये से ज्यादा खर्च किये है। हिंदुस्तान का प्रधान कार्यलय पुरुलिया (विहार)मे है।

लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन—इण्डियन कौंसिल

१९२४ मे लंदन में लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन की स्थापना हुई और उसकी हिंदुस्तानी शाखा—इडियन कौंसिल की साल भर वाद १९२५ में। हिन्दुस्तान में लोग रोगियो की दीन दशा से परिचित थे। इसलिए जब इडिया कौंसिल की स्थापना के वाद फड के लिए पब्लिक अपील निकली तो राजा महाराजा और जनता—सव ने वडी उदारता से उसका समर्थन किया। २०२५००० रुपया स्थायी कोष में जमा हो गया, और उससे मिलनेवाली १२२००० रुपये की सालाना रकम असोसियेशन की उद्देश्य-पूर्ति के लिये खर्च होने लगी। वीच में एक्सचेंज की दर के कारण इस आय में ११०००) सालाना की कमी हो गयी। पर आगे चल कर सिलवर जुविली फड में से ३१३०००) की सहायता मिल जाने से वह कमी पूरी हो गयी।

मर्यादित सावनो से अविक से अधिक फायदा उठा लेने के लिए इस काम के तीन हिस्से किये गये है—(१) इस विषय के शोव अनुसवान के लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन देना, (२) रोग की उत्पत्ति, प्रतिवध और उपचार सववी यथार्थ ज्ञान लोगो में फैलाना, और (३) रोगी के आधुनिक उपचार पाने का प्रवव करना। यह कार्यक्रम अमल में लानें का काम मध्यवर्ती कौंसिल और प्रातीय शाखाओ में वाट दिया गया है। अनुसधान, प्रचार और अनुभवी डाक्टर सिखा कर तैयार करना इत्यादि सर्व प्रातीय उपयोग नवधी जिम्मेदारी मध्यवर्ती कौंसिल

की है। रोगियो के उपचार पाने की व्यवस्था वगैरा, जो स्थानीय प्रकार की जिम्मेदारी है, प्रातीय शाखाए करती है। उन्हें इसके लिए करीव-करीव आय का आधा हिस्सा दे दिया जाता है। डिस्ट्रिक्ट वोर्ड और म्युनिसिपल बोर्डों से उन्हे और भी कुछ मदद मिल जाती है।

स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिस एड हाइजीन (कलकत्ता) में अनुसधान कार्य की व्यवस्था रखी गयी है। उसमें ट्रापिकल स्कूल और इडियन रिसर्च फड असोसियेशन के अधिकारी सहायता करते है। १९३९ के अन्त तक पिछले १५ वर्षों में इसके लिए असोसियेशन ने ३६६८१२) रुपये खर्च किये है। इस सवध का साहित्य, विज्ञापन, फिल्म और स्लाइड तैयार कराकर जनता में कोढके वारे में प्रचार किया जाता है। 'लेप्रसी इन इडिया' नामक एक त्रैमासिक पत्र भी निकाला जाता है। इसकी वजह से कोढ सवधी अनुभवो और खयालात के परस्पर आदान-प्रदान का सुभीता कार्यकर्ताओ को है। अव तक असोसियेशन ने ९२०००) रुपये प्रचार के लिए खर्च किये है। जानकार डाक्टर सिखा-पढाकर तैयार करने के लिए कलकत्ता और डिचपल्ली में स्पेशल क्लास खोले जाते है। हिंदुस्तान तथा अन्य देशो में मिलाकर १००० डाक्टर तैयार हो गये है। इसके लिए असोसियेशन को ७९०००) रुपये खर्च करने पड़े है। इन सीख-पढकर तैयार हुए डाक्टरो ने अपने-अपने प्रात में दूसरे डाक्टर सिखाकर तैयार कर दिये है। आज कोढ के आधुनिक-ज्ञान-प्राप्त जानकार डाक्टरो का किसी भी प्रात में मिलना कठिन नही है।

हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न भागो में तुलनात्मक रोगमान क्या है, किस जाति और किस वर्ग में रोग अधिक है और उसके कारण क्या है यह निश्चय करने को १९२७ में एक खास सर्वे पार्टी ने वडे हिस्से में जाच का काम शुरू किया था। इसमे असोसियेशन के ८७३०००) रुपय

खर्च हुए। उपर्युक्त जानकारी प्राप्त करने के बाद १९३१ में सर्वे पार्टी विसर्जित कर दीगई। कोढ रोकने के प्रभावशाली उपाय के अनुसधान का काम इस वक्त बगाल और मद्रास के शहरी हिस्सो तथा गांवो में जारी है।

प्रांतीय और स्थानीय सब शाखाओ के उपचार के प्रबंध का काम उनकी आमदनी के अनुसार चलता है। सब देशो में कुल १००० उपचार केन्द्र है। उनमें काफी रोगी उपचार के लिए आते हैं। हर शाखा की यह रिपोर्ट है कि नियमित और अधिक समय तक इलाज कराने पर उचित सुधार होता है। हजारो रोगियो को योग्य उपचार मिलता है और सुधरा हुआ रोगी बहुतेरे हताश भाइयो को केन्द्रो में भेजने का कारण बनता है, यह सुचिन्ह है। इसकी वजह से हिंदुस्तान से कोढ को नेस्तनाबूद करने की कोशिश में कामयाबी की उम्मीद होने लगी है।

क्युलिन (फिलिपाइन्स)

इस द्वीप में फिलिपाइंस के सब रोगी अलगा कर जमा कर दिये गये है। अमेरिकन और फिलिपाइन दोनो सरकारो ने मिल कर वहा एक आदर्श सस्था बना दी है। दुनिया की इस सबध की यह एक उत्तम सस्था है। अनुसधान के काम में इसका खास स्थान है।

कुछ उल्लेखनीय व्यक्ति

फादर डैमियन—यह बेलजियन पादरी थे। इनका मूल नाम था जोसेफ डिव्यूस्टर। इनका जन्म ३ जनवरी १८४० को ट्रेमेल में हुआ था। रोजगार में लगने के इरादे से इन्होने तालीम पायी थी। लेकिन १८ वर्ष की उम्र में यह पादरी बन गये और डैमियन नाम पडा।

यह नायब पादरी होकर काम कर रहे थे कि इनके एक पादरी मित्र पैसिफिक द्वीप मे बीमार पडे। उनकी जगह यह काम करने गये। हवाई द्वीप की राजधानी होनोलूलू में मार्च १८६४ में पहुचे। आरम्भ

में ह्विट्सन टाइड मे इनकी नियुक्ति हुई। उस समय हर कोढी को मोलोकाई द्वीप मे अलग भेज देने का हवाइयन सरकार का कायदा था। उनकी हालत वहुत ही दयनीय और हृदयस्पर्शी थी। डैमियन साहव उनका दु ख दूर करने को तडफडाने लगे। इन्होने १८७३ में खुद स्वयमेवक की भाति मोलोकाई द्वीप मे धर्मोपदेशक का काम करना स्वीकार किया। मोलोकाई द्वीप मे पाव रखने के वाद वही इन्होने अपनी जिदगी विता दी। सिर्फ पादरी के नाते होनोलूलू जाते थे। उतना ही वस्त वाहर वीतता था, वाकी सव उसी द्वीप में। धर्मोपदेशक के काम के सिवा पानी, रहने के मकानात, खानपान इत्यादि का सुधार कर रोगियो की भौतिक सुख-सुविधा की ओर भी यह ध्यान देते थे। इस काम मे यह खुद शारीरिक श्रम करते थे, इससे उस ओर सरकार का ध्यान भी खिचा था। शुरू के ५ वर्षों में इन्होने सिर्फ अकेले ही काम चलाया। उसके वाद वहा के दूसरे धर्मोपदेशक इनकी सहायता करने लगे। यह रोगियो की हर तरह की सेवा नि मकोच होकर करते थे। १८८५ में इनको खुद कोढ हो गया और १५ वी अप्रैल १८८९ में इन्होने शरीर छोडा। स्टीवन्सन, क्लिफोर्ड और पम्पट्यूल वगैरा ने इनके जो जीवनचरित्र लिखे है वह पढने योग्य है।

यरोपीय देशो में कोढियो के विषय मे रस लेनेवालों में ईसामसीह के वाद ही फादर डैमियन का नाम लिया जाता है। फादर डैमियन स्वार्थ-त्याग और निरपेक्ष-सेवा की सच्ची प्रतिमूर्ति थे।

आर्मूर हनसेन

इन्होने १८७१ में कोढ के कीटाणुओं की खोज की। अभी तक ऐसी दूसरी खोज नही हुई है। यह जैसे विशेषज्ञ थे वैसे ही उदारचेता भी। नारवें में कोढ को नेस्तनावूद करने में इनका खास हाथ था।